

ISSN 2229-6328

भाग - अष्टात्रिंश, द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

वैदिक विमर्श

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः अष्टात्रिंश, द्वितीय खण्ड (वि. सं. २०८०)

वैदिक विमर्श

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अप्रैल - जून २०२३ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

- स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

- **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: अष्टात्रिंश, द्वितीय खण्ड
अप्रैल-जून २०२३

- प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

- मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

- प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

- प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

- सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

- **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२४ गते
- **सृष्टि आदितः** १,९६,०८,५३१२४ गते
- **युगाब्द** ५१२५
- **दयानन्दाब्द** १९९

सम्पादकीयम्

वैदिक साहित्य अखिल ज्ञान विज्ञान का अनन्त पारावार है। यह पावन ज्ञान धारा अविरलरूप से प्राणिमात्र के अन्तस् एवं बाह्य कल्मष का प्रक्षालन करती आ रही है। शुद्ध एवं पवित्र अन्तःकरण वाले सुधीजन इस ज्ञाननिधि में निमज्जन कर त्रिविध ताप से विमुक्त हो परमानन्द को प्राप्त कर भवसागर से मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि **शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।** वेदप्रतिपादित ज्ञान विज्ञान सार्वकालिक एवं सार्वभौम है। यह वर्तमान में भी उतना ही प्रासङ्गिक है, जितना मानव सृष्टि के आदि में था। वेदज्ञान का आलोक मनुष्य मात्र को कर्तव्य, नीति अथवा धर्म के पथ का प्रदर्शन करने वाला है।

वस्तुतः किसी भी संस्कृति अथवा सभ्यता का आधार उसके धर्मग्रन्थ होते हैं। उसी से प्रेरणा प्राप्त कर वह संस्कृति अथवा सभ्यता अपने आपको जीवन्त एवं गतिशील बनाये रखती है। विश्व की अनेक संस्कृतियाँ इस सन्दर्भ में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि पावन अन्तःकरण वाले, तपोरत, ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों ने जिस ईश्वरीय ज्ञान का आत्मसाक्षात्कार करके लोककल्याण के लिए प्रचार-प्रसार किया, भारतीय जनमानस उसको विस्मृत कर बैठा। एक समय ऐसा भी आया जब यह प्रकाशपुञ्ज विधर्मियों एवं विदेशियों के षड्यन्त्र के कारण तिमिरावच्छिन्न हो गया था। ऐसे अन्धकारमय समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी

समर्पणानन्द सरस्वती तथा अन्य अनेक महनीय मनीषियों ने अपने सत्प्रयासों से न केवल वेद के विशुद्ध स्वरूप का पुनः प्रचार-प्रसार किया अपितु वेद के प्रति जनसामान्य को जागरूक भी किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद मन्त्रों की आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कर जन सामान्य के लिए वेद की उपयोगिता प्रतिपादित की अन्यथा वेद का उपयोग केवलमात्र कर्मकाण्ड तक सीमित रह गया था। जबकि वेदों का प्राकट्य मानव के श्रेय प्रेय साधक सर्वविध ज्ञान विज्ञान के प्रकाशनार्थ हुआ था। वेद तो मानवजाति के धर्मशास्त्र अथवा कर्तव्यशास्त्र हैं। इस सन्दर्भ में महर्षि मनु कहते हैं -

यः कश्चित् कस्यचित् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

मानव जीवन ऊर्ध्वमुखी जीवन यात्रा का एक दिव्य अवसर है। मनुष्य से भिन्न संसार में अन्य कोई प्राणी नहीं जिसको यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ हो। किन्तु सांसारिक ऐन्द्रजाल में फंसकर वास्तविक जीवन लक्ष्य से भ्रष्ट होकर मानव अधोमुखी यात्रा में प्रवृत्त हो जाता है। वेद का ऋषि स्पष्ट सन्देश देता है कि **मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्** (ऋग्वेद १०.५३.६) अर्थात् हे मनुष्य तू मननशील बन तथा दिव्य गुणयुक्त सन्तानों का निर्माण कर। मनुष्य का मूलस्वरूप पवित्र, प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय तथा तेजस्वी है। इसीलिए मनुष्य को कल्याण की प्राप्ति कर अभ्युदय के पथ पर अग्रसारित होना चाहिए-

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समङ्क्राम। अथर्व० २.११.५

वेदों में मानव जीवन के उत्थान सम्बन्धी विविध ज्ञान विज्ञान को यज्ञ के माध्यम से व्याख्यायित किया गया है। वैदिक साहित्य में यज्ञ की महती महिमा अनेकत्र प्रतिपादित की गई है। शास्त्रों में यज्ञ को स्वर्ग (सुख

विशेष) की प्राप्ति का साधन कहा गया है- **नौर्हवा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्।** वैदिक साहित्य की एक विशिष्ट शैली है। यहाँ आख्यान, संवाद एवं प्रतीकात्मक रूप से किसी भी विषय को उपस्थापित किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का प्रतीकात्मक रूप से वर्णन किया गया है। आचार्य सायण लिखते हैं कि **तत्र कर्मणां भावनापुरस्सरमनुष्ठाने फलविशेषो भविष्यति** (शत० ब्रा० १०.१.१.१) अर्थात् यज्ञ के प्रतीक को समझकर ही यज्ञ क्रिया सम्पादित करने पर विशिष्ट फल की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु मध्यकालीन मीमांसकों ने यज्ञ की प्रतीकात्मकता को न समझकर यज्ञीय क्रियाओं की विकृत व्याख्या एवं स्वरूप जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रसङ्ग में कात्यायन श्रौत सूत्र में आये हुये **अवकीर्णिनो गर्दभेज्या** की व्याख्या द्रष्टव्य है। उक्त वाक्य के प्रत्यायनीय (प्रतीकार्थ) को न समझते हुए इसकी विचित्र व्याख्या प्रस्तुत की गई, जो सर्वथा अशास्त्रीय एवं अग्राह्य है। मध्यकालीन मीमांसक इसकी व्याख्या में लिखते हैं कि जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट हो गया हो, उसे प्रायश्चित्तस्वरूप गर्दभ (गधे के मांस) की आहुतिओं से यज्ञ करना चाहिए। अपराध ब्रह्मचारी का तथा दण्ड निरपराध गर्दभ को। यह न्याय एवं प्रायश्चित्त की व्यावस्था अद्भुत है।

पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी महाराज वैदिक वाङ्मय के अद्भुत विद्वान् थे। उन्होंने रोचक एवं सरल शैली में वैदिक प्रतीकवाद को सरसता से स्पष्ट किया है। स्वामी जी महाराज कात्यायन श्रौतसूत्र के उक्त प्रसङ्ग की व्याख्या में लिखते हैं- **'यहाँ गधा तो मूर्खता अध्यवसाय और स्वल्पाहार का प्रतीकमात्र है। गधे पर चढ़ना तो दृष्ट है, अदृष्ट भावना तो गधे से कुछ सीखना है और कुछ भूलना है। मूर्खता का परित्याग, अध्यवसाय और तप का ग्रहण, यह इस प्रतीक का प्रत्यायनीय है।'** भाव तो यह था कि जिस प्रकार गर्दभ कठोर परिश्रम करता है तथा शुष्क तृणादि का भक्षण करता है, उसी प्रकार का आचरण यदि ब्रह्मचारी करेगा तो फिर

ब्रह्मचर्य भङ्ग न करेगा।

इस प्रकार के अनेक प्रसङ्गों से वैदिक साहित्य भरा हुआ है, जहाँ प्रत्यायनीय को न समझकर व्याख्याकारों के द्वारा दुर्व्याख्याएँ की गई हैं। जिसके परिणामस्वरूप वैदिक यागों का स्वरूप जटिल एवं कद्रूप हो गया तथा यज्ञ में हिंसा, पशुबलि एवं आडम्बर होने लगे। पावमानी के इस अङ्क के कुछ लेखों में वैदिक याग एवं उसमें होने वाली क्रियाओं का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सुधी पाठक निश्चित ही इससे लाभान्वित होंगे।

विद्वान् मनीषी का कार्य केवल सामान्यजनों का मार्गदर्शन करना मात्र ही नहीं होता है अपितु आवश्यकता पड़ने पर उसमें शासक को भी शासित करने का सामर्थ्य होना चाहिए। पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने नेहरु जी की गलत नीतियों से आहत होकर नेहरु जी का मार्गदर्शन करने के लिए तत्कालीन समय में '**नेहरु नीति**' नामक लेख लिखा था, पावमानी के प्रस्तुत अङ्क में वह लेख भी प्रकाशित किया जा रहा है। इस लेख से यह भी प्रमाणित होता है कि स्वामी जी महाराज केवल वैदिक विषयों के ही गूढ़ ज्ञाता नहीं थे, अपितु स्वामी जी राजनैतिक गूढ़ विषयों पर भी अच्छी पकड़ रखते थे।

पावमानी के प्रस्तुत अङ्क में प्रकाशित लब्धप्रतिष्ठ वैदिक विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख निश्चित ही पाठकों के ज्ञानवर्धन तथा वैदिक गूढ़ रहस्यों को समझाने में सक्षम होंगे।

इन्हीं कामनाओं के साथ...

प्रो० सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

भारतीय साहित्य, दर्शन और सांस्कृतिक परम्परा का उत्स-वेद

डा० ज्वलन्त शास्त्री[1]

'**भारतीय दर्शन का इतिहास**' के लेखक श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने प्रारम्भ में यह बताया है कि यूरोपीय विद्वान् कहते हैं कि भारत का कोई दर्शन नहीं है। भारत में देव कथाएँ हैं, मिथक हैं, काव्य हैं और धर्म तो हैं ही। लेकिन विवेक सम्मत दर्शन भारत में नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक रिक्थ और भाषायी रिक्थ आपके पास नहीं है। सिकन्दर ने आकर पहले पहल भारत को पाश्चात्य सभ्यता से परिचित कराया। फिर अंग्रेज आए बहुत दिन बाद और उन्होंने भारत को ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश दिया।

मार्क्सवादी विचारधारा के प्रसिद्ध विद्वान् प्रगतिशील समालोचक डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं कि उपर्युक्त अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य के ऐतिहासिक मूल्याङ्कन के लिए उन्होंने दर्शनों का अध्ययन प्रारम्भ किया। कुछ दिनों तक पढ़ने के बाद वे इस परिणाम पर पहुँचे कि बिना ऋग्वेद को पढ़े हुए भारतीय दर्शन के विस्तार को नहीं समझा जा सकता। डा० शर्मा की प्रसिद्ध कृति पश्चिम एशिया और ऋग्वेद

---

[1] **चाणक्यपुरी, अमेठी, उ०प्र०**

की यही पृष्ठभूमि है। भारतीय संस्कृति और परम्परा के मूल्याङ्कन के सन्दर्भ में डा० रामविलास शर्मा के शब्द इस प्रकार हैं- भारत और यूनान के दर्शन का विवेचन ऋग्वेद को छोड़कर नहीं किया जा सकता। मैंने यह भी अनुभव किया कि ऋग्वेद बहुत ऊँचे दर्जे का दार्शनिक काव्य है। बिना इसके भारतीय साहित्य के विकास का विवेचन नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद का अधिक भाग कर्मकाण्ड के लिए नहीं रचा गया। वास्तव में वह कर्मकाण्ड का विरोधी है। अधिकांश भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् कर्मकाण्ड को ध्यान में रखकर ऋग्वेद और अथर्ववेद की व्याख्या करते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने इस बात को अच्छी तरह पहचाना है कि कर्मकाण्डी पण्डितों ने वैदिक ऋचाओं का कैसा दुरुपयोग किया है? मुझे ऐसा लगा कि वैदिक साहित्य की मूलधारा जीवन की स्वीकृति की धारा है। वह संसार के मिथ्या होने का प्रचार नहीं करती। वह मनुष्य को सामाजिक जीवन बिताने पर बहुत जोर देती है। भारतीय साहित्य में प्रख्यात तीन आचार्य हैं- पाणिनि, चरक और कौटिल्य। पिछले डेढ़ सौ साल में इस बात का प्रचुर प्रचार किया गया कि भारत अध्यात्मवादी देश है और यथार्थजीवन उसके लिए महत्त्वहीन था। किन्तु यथार्थ जीवन पर ध्यान दिए बिना पाणिनि, चरक और कौटिल्य की व्याख्या नहीं की जा सकती।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में कहा है कि ऋग्वेद का ऋषि प्रार्थना नहीं करता। वह किसी देव के गुण बताता है तो उसका आशय यह होता है कि ऐसे गुण मुझमें भी हैं। वास्तव में प्रार्थना की जरूरत तब पड़ती है जब समाज में वर्ग भेद बढ़ जाता है। मनुष्य अपने को असहाय पाता है। ऋग्वेद का कवि असहाय नहीं है। वह जितनी सहायता देवता से लेना चाहता है उतनी उसे भी देने को तैयार होता है।

यह सहायता केवल कवि के रूप में नहीं होती बल्कि काव्य शक्ति के रूप में होती है। वह अपनी काव्य शक्ति से देवता को शक्तिशाली बनाता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, महाभारत, वाल्मीकिरामायण इन सबमें भारतीय मनुष्य बनकर खड़ा होता है। उसने किसी देवता के आगे सिर झुकाना नहीं सीखा। देवता वास्तव में प्राकृतिक शक्तियाँ हैं और ये शक्तियाँ मनुष्य के भीतर भी हैं। वैदिक प्रतीकवाद का रहस्य यह है कि कवि निरन्तर बाहर और भीतर की शक्तियों में तालमेल करता है, इसलिए पलायन का प्रश्न ही नहीं उठता।

आर्य बाहर से आए और उन्होंने भारत को नई सभ्यता दी- यह जो कहा जाता है, उसके सम्बन्ध में मेरा कहना है कि आर्य नाम का कोई समाज नहीं था। इस नाम की कोई नस्ल नहीं थी। नस्ल के आधार पर कहीं भी किसी समाज का गठन नहीं हुआ। नस्ल की कल्पना १९ वीं सदी में यूरोप के लोगों ने की। १९ वीं सदी के मध्य तक भारत में आर्यों के बाहर से आने की कल्पना लोकप्रिय नहीं हुई थी। इसीलिए मार्क्स ने १८५३ ई० में भारत के बारे में लिखा था कि यह देश यूरोप की भाषाओं और धर्मों का स्रोत है। १९ वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के सुदृढ होने और यूरोप की अन्य जातियों के प्रसार के साथ यूरोपीय विद्वानों को लगा कि भारत को अपनी भाषाओं का स्रोत कहना उनके लिए अपमान की बात है, जिनको उन्होंने बनाया है, उनके बाप- दादों को अपनी भाषाओं का जनक कहना सम्मान विरुद्ध है। इसी वजह से उन्होंने भारत पर आर्यों के आक्रमण की कहानी गढ़ी। यह काम मुख्यतः जर्मनी में हुआ। उन्होंने ध्वनितन्त्र के ऐसे नियम बनाए, जिससे संस्कृत लैटिन, ग्रीक आदि के सम्बन्धों की व्याख्या की जा सके।

यह झूठ (भारत में बाहर से आने वाले आर्यों की कल्पना तथा

भारत पर आर्यों के आक्रमण की कहानी) विद्वानों के दिमाग में घर कर गया है। आर्य लोगों के ईरान से भारत आने के बारे में एक छोटा-सा सवाल है कि ईरान में तो आर्य सिन्धु को हिन्दू और असुर को अहुर कहते थे। लेकिन भारत आकर वे हिन्दू को सिन्धु और अहुर को असुर कैसे कहने लगे? और ऋग्वेद में असुर और सिन्धु हैं, अहुर और हिन्दू नहीं। संस्कृति के मूलस्रोत- वेदों को जाने बिना भाषा, शरीर और समाज का विश्लेषण सम्भव नहीं है।

मैक्डानल और कीथ संस्कृत भाषा के बहुत बडे विद्वान् थे। वे आधुनिक विज्ञान की प्रगति से भी परिचित थे। उन्होंने वैदिक इण्डेक्स नाम से वैदिक शब्दों का प्रसिद्ध कोश बनाया था। इसमें उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि वैदिक भारतीय बहुत प्राचीन काल से शरीर की रचना से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने लगे थे। उदाहरणस्वरूप वे अथर्ववेद के एक सूक्त का हवाला देते हैं, जिसमें एड़ी से लेकर कपाल तक मानव शरीर के अङ्गों का वर्णन है। इस वर्णन को उन्होंने व्यवस्थित और किसी हद तक सही बताया है। चरक और सुश्रुत ने मानव अङ्गों का जो वर्णन किया, उससे अथर्ववेद के वर्णन को उन्होंने बहुत मिलता-जुलता बताया है। प्रवाद है कि भारतवासी आत्मा और परलोक की बातें सोचते हैं, शरीर और नश्वर संसार के बारे में कुछ सोचना और कहना आवश्यक नहीं समझते। पर शरीर पर ध्यान दिए बिना उसके अङ्गों का वर्णन कोई कैसे करेगा? और चरक संहिता में रोगियों की चिकित्सा के लिए जिन पचासों जड़ी-बूटियों के नाम आए हैं, उनकी पहचान संसार का, प्रकृति का अध्ययन किए बिना कैसे सम्भव है? वास्तव में शरीर रचना का अध्ययन अथर्ववेद से आरम्भ नहीं होता, उसके पहले वह ऋग्वेद से आरम्भ हो चुका है। ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त शरीर के अङ्गों पर है और

वह अथर्ववेद के कवियों को इतना प्रिय था कि उन्होंने थोड़े से परिवर्तन के साथ उसे एक से अधिक बार दोहराया है। चरक संहिता में शिष्य ने गुरु से पूछा कि वैद्यों का वेद कौन-सा है? गुरु ने उत्तर दिया - हमारा वेद अथर्ववेद है। चिकित्सा विज्ञान की परम्परा अथर्ववेद से चली आ रही है। इस वेद के प्रति पुराने लोग सचेत थे। अथर्ववेद और चरक संहिता में बहुत से अङ्गों के नाम बहुत से रोगों के नाम, इनके साथ बहुत-सी ओषधियों के नाम सामान्य हैं। इनमें अनेक नाम ऋग्वेद और अथर्ववेद में सामान्य हैं। रस, रक्त और ओज सब शरीर में प्रवाहमान है। प्रवाह का माध्यम धमनी, स्रोत और सिरा हैं।

यदि संसार मिथ्या है तो शरीर मिथ्या है। उसके रोग मिथ्या हैं। रोगों के उपचार के लिए जिस धरती से जड़ी बूटियाँ एकत्र की जाती हैं, वह धरती मिथ्या है और जड़ी बूटियाँ भी मिथ्या हैं। ऐसा मिथ्यावाद ऋग्वेद और अथर्ववेद में नहीं है, यह निश्चित है। भारत में जो भी ज्ञान विज्ञान में उन्नति हुई है, वह सापेक्ष रूप में संसार और मानव शरीर को सत्य मानकर ही हुई है। विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान की उन्नति से दर्शन का गहरा सम्बन्ध है। भाषा विज्ञान में पाणिनि, शरीर विज्ञान में चरक या उनके पूर्ववर्ती आचार्य अग्निवेश, आत्रेय, पुनर्वसु आदि और अर्थशास्त्र में कौटिल्य अथवा उनके पूर्ववर्ती बृहस्पति, उशना आदि आचार्य सब संसार को सत्य मानकर ही भाषा, शरीर और समाज का विश्लेषण कर सके थे। प्राचीन दर्शन की कोई भी धारा लोकहित छोड़कर नहीं चलती। लोक न होगा तो लोकहित कहाँ से होगा? ब्रह्म और आत्मा की सर्वाधिक चर्चा करने वाला वेदान्त भी लोकहित का तिरस्कार नहीं करता। लोक हित की यह धारणा उपनिषदों से धर्मशास्त्र तक चली आई है।

भारतीय दर्शन की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह लोक

व्यवहार से कभी पूरी तरह असम्बद्ध नहीं हुआ। धर्मशास्त्रों में बार-बार कहा गया है कि पूजा, उपासना, कर्मकाण्ड की तुलना में सदाचार बढ़कर है। सदाचार मनुष्य के नैतिक मूल्यों का एक दार्शनिक आधार है। वह उपनिषदों और वेदों में भी में प्राप्त है। जो ब्रह्म मनुष्य के भीतर है, वही ब्रह्म दूसरे मनुष्य के भीतर है। इसलिए एक मनुष्य दूसरे से घृणा क्यों करे? अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा क्यों समझे? जिस समाज व्यवस्था में शूद्र छोटे हैं, ब्राह्मण बड़े हैं, स्त्रियाँ शूद्रों के समान हैं, वह व्यवस्था पुरोहितों की रची हुई है, संस्कृति के मूल स्रोतों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यजुर्वेद में कहा गया है- **यथा इमां कल्याणीं वाचम्,** जिस प्रकार इस कल्याणकारी वाणी का हमने **ब्रह्मराजन्याभ्यां च शूद्राय च अर्याय स्वाय अरणाय च जनेभ्य आवदानि** ब्राह्मण व क्षत्रियों के लिए और शूद्र के लिए तथा वैश्य के लिए अपने प्रिय लगने व प्रिय न लगने वाले, पराए एवं सम्पूर्ण जनों के लिए उपदेश किया है, वैसे हे मनुष्यों! तुम लोग भी करो। (यजु० २६.२) सातवलेकर, यजुर्वेद का सुबोध भाष्य, पृ० ४२३

जब यजुर्वेद रचा गया था, तब समाज में चार वर्ण थे। यह वेद किसी एक वर्ण के लिए नहीं वरन् शूद्रों समेत चारों वर्णों के लिए है। शूद्र वेद न पढ़ें, पुरोहितों का यह कार्य वा निर्णय वेदविरोधी था। इन्हीं पुरोहितों द्वारा शूद्रों के साथ स्त्रियों के लिए कहा गया- वे वेद न पढ़ें। लेकिन ऋग्वेद के अनेक सूक्त और मन्त्र स्त्रियों के रचे हुए परम्परा से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के ८ वें मण्डल का पूरा ९१वां सूक्त आत्रेयी अपाला का रचा हुआ है। १० वें मण्डल के ३९ वें एवं ८० वें सूक्त कक्षावती घोषा के रचे हुए प्रसिद्ध हैं। धर्मरक्षक पण्डित स्त्रियों के रचे हुए वेदमन्त्र स्वयं पढ़ते थे, परन्तु स्त्रियों को उन्हें पढ़ने का अधिकार न देते थे।

राजा राममोहन राय परम वेदान्ती थे। उन्होंने सती प्रथा का विरोध किया। यह नहीं कहा कि आत्मा के लिए शरीर बन्धन है, पति के साथ विधवा भी चिता पर भस्म हो जाए तो उसकी आत्मा मुक्त हो जायेगी। यहाँ व्यवहार में हम वेदान्तियों को लोकहित के लिए संघर्ष करते हुए देखते हैं। विधवाओं की प्राणरक्षा के लिए राममोहन राय को संघर्ष करना पड़ा, इसी प्रकार विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती को संघर्ष करना पड़ा।

पुनर्जन्म तथा कर्मफल सिद्धान्त

भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म एवं कर्मफल का सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जो आत्मा की नित्यता, देह से भिन्नता तथा जीवात्मा की सद्गति एवं दुर्गति का आधार है। यही सिद्धान्त व्यक्ति को पापकर्म एवं अनाचार से विरत कर पुण्य कर्मों के प्रति प्रेरित करता है। वेदों में उक्त सिद्धान्त के प्रतिपादक अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

ऋग् १.१६४.३०

परमेश्वर (पस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्ये) बीच में रहने वाले (ध्रुवम्) अविनाशी (तुरगातु) शीघ्र गति वाले (जीवमेजत्) जीव को गति देता हुआ तथा (अनत्) प्राणशक्ति सम्पन्न करता हुआ (शये) रहता है। (मृतस्य अमर्त्यः) मृत का न मरने वाला (जीवः) जीवात्मा (स्वधाभिः) अपने गुण तथा पाप कर्मों के कारण (मर्त्येन सयोनिः) मरणधर्मा शरीर के साथ समान स्थान वाला होकर जगत् में (आचरति) बार-बार आता है।

आहाराः विविधाः भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधाः दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥

निरु० परिशिष्ट ६ ख०, १४ अ०

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुत पुरूणि।
धास्युर्योनि प्रथम आ विवेश यो वाचमनुदितां चिकेत॥

अथर्व० ५.१.२

अर्थात् आदि गुरु परमात्मा ने सबसे पूर्व धर्मों कर्तव्यों अथवा धारक नियमों को बनाया है, उसके बाद वह अनेक शरीरों को बनाता है फिर धास्य जीवात्मा को शरीर में प्रवेश कराता है। जीवों के कल्याणार्थ सर्गारम्भ में अनुदित - अव्यक्त वाणी को चिताता है, सिखाता है। इसी प्रकार वेदमन्त्रों से प्रेरणा प्राप्त कर भारतीय दार्शनिक आचार्यों ने पुनर्जन्म के वैदिक सिद्धान्त को तर्क तथा प्रमाणों से परिपुष्ट कर दृढ आधार भूमि प्रदान की। यदि हमारे वर्तमान जन्म का आधार पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्म का परिणाम नहीं है तो वर्तमान जन्म से पूर्व हमारा जीव कहाँ था और क्या कर रहा था? क्योंकि जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है। जीव के कर्म भी प्रवाह रूप से नित्य हैं। कर्म और कर्मवान् का नित्य सम्बन्ध होता है। पूर्वजन्म तथा परजन्म (परलोक) न मानने पर अकृताभ्यागम तथा कृतहानि दोष होगा। क्योंकि इस जन्म में हम जो सुख और दुःख प्राप्त करते हैं, इस सुख दुःख रूपी फल - अभ्यागम (प्राप्ति) का कोई हेतु न होने स अकृत अर्थात् बिना कुछ किए सुख दुःख का प्राप्त होना (अकृत+अभ्यागम) अकृताभ्यागम दोष से युक्त माना जायेगा। इसी प्रकार अगला जन्म-परजन्म वा परलोक न मानने पर हमने इस जन्म में जो भी शुभ वा अशुभ कर्म किए हैं, उनका फल न मिलने से कृतहानि होगी।

यह विषमसृष्टि जीव कर्म सापेक्ष है। जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। पुनर्जन्म और परजन्म अर्थात् इहलोक और परलोक की अवधारणा में कर्मफल सिद्धान्त का नियम काम करता है।

ऐसा न मानने पर जगत् रचयिता और जगत् पिता (पालक) परमेश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष मानने पड़ेंगे। किन्तु ईश्वर इन दोषों से सर्वथा मुक्त है। कर्मफल सिद्धान्त का मूल भी वेद है-

न किल्विषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥

अथर्व० १२.३.४८

अर्थात् कर्म जब तक अपने फल को नहीं देता, तब तक वह सञ्चित रूप में रहता है अर्थात् जब तक किसी कर्म का फल मिल नहीं जाता, तब तक वह संस्कार के सूक्ष्म रूप में टिका रहता है, वह नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार ईश्वर की जगत् सर्जना (सृष्टि) और पालना आदि नियम व्यवस्थित, अटल और अटूट हैं, उसी प्रकार ईश्वर की कर्म फल व्यवस्था भी नियमबद्ध, व्यवस्थित, अटल और अटूट है।

इन्हीं वेदमन्त्रों के आलोक में महामुनि व्यास और महर्षि पतञ्जलि अपने वेदान्त दर्शन तथा योग दर्शन में क्रमशः **फलमत उपपत्तेः** (वेदान्त सूत्र ३.२.३८) तथा **सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः** (योग दर्शन २.१३) सूत्रों की रचना करते हैं। भारतीय आस्तिक दर्शनों की यह मूल भित्ति है, इसी परिप्रेक्ष्य में **वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शययि** (वेदान्त सूत्र २.१.३४) तथा **कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्** (सांख्य सूत्र ६.४१) वैयासिक और कापिल सूत्रों को भी समझना चाहिए। योगदर्शन कार स्पष्ट लिखते हैं- **पूर्वकृतफलानुबन्धात् जगदुत्पत्तिः** अर्थात् पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के फल के अनुरूप ही शरीरों की उत्पत्ति होती है। महामुनि व्यास का यह वचन पूरे हिन्दू समाज में व्याप्त है-

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ महाभारत

इसी आधार पर लोक में इस प्रकार के आभाणक प्रसिद्ध हैं-

जैसा बोओगे वैसा काटोगे।

बोये पेड़ बबूर के तो आम कहाँ से होय।

जैसी करनी वैसी भरनी।

भारतीय संस्कृति का इतिहास लोकविरोधी रूढियों और प्रगतिशील विचारधाराओं के सतत संघर्ष का इतिहास है। उस इतिहास का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि हम लोकविरोधी रूढियों को भारतीय संस्कृति का सारतत्त्व न समझ लें। वरन् प्रगतिशील विचारधाराओं से कुछ सीखकर उनके आधार पर नई संस्कृति का विकास करें।

वेदों में सैन्य विज्ञान

प्रो० भगवतशरण शुक्ल[१]

भारतीय परम्परा में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। वेदों में जहाँ मनुष्यों के कर्मों के साथ-साथ सम्पूर्ण ज्ञान राशि का मूल स्वरूप प्राप्त होता है, वहीं सैन्य विज्ञान के मूल स्वरूप भी उपलब्ध होते हैं। क्योंकि दुष्टों के समूह के विनाश के लिये तथा शत्रुराष्ट्र से अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए सैन्य विज्ञान की आवश्यकता सृष्टिविज्ञान के समय मानवों को अनुभूत हुई, जिससे सैन्य विज्ञान का आविष्कार हुआ। परम्परा के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को जब वेदों का उपदेश हुआ तो उसी के साथ ही उपवेदों, ब्राह्मणों और वेदाङ्गों का उपदेश उन्हें हुआ। मानव सृष्टि में सर्वप्रथम मरीचि कश्यप प्रभृति ऋषियों की रचना हुई। ब्रह्मा ने समस्त वैदिक साहित्य का उपदेश उनको करके इस परा एवं अपरा विद्या की स्थापना की। ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद का स्थापत्यवेद उपवेद माना जाता है। धनुर्वेद में सम्पूर्ण सैन्य विज्ञान का वैशद्येन वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु उसके मूलस्रोत वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में भी प्रसङ्गतः प्राप्त होते हैं।

---

[१] **पूर्व अध्यक्ष व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी**

अथर्ववेद में बताया गया है कि पूर्व में सृष्टिकाल के समय उस प्रजा का प्रशासक कोई नहीं था। नेतृविहीन समाज अपनी शून्यावस्था के विषय में चिन्तित हो सोचने लगा क्या ऐसी ही स्थिति रहेगी? उन सबने विचार करके सर्वप्रथम अपने-अपने परिवार के मुखिया का चयन किया, जिसका नाम गृहपति रखा गया।

सम्पूर्ण प्रजा एवं प्रजा में विद्यमान गृहपतिओं ने चिन्तन करके ग्राम सभा की परिकल्पना कर एक सभापति की परिकल्पना की। कुछ समय बाद जब समाज की समस्याओं का समाधान गृहपति तथा ग्राम सभापतियों के कार्य से सम्पन्न न हुआ तो सभी ने मिलकर समिति का गठन कर समितिपति की परिकल्पना की। अनन्तर उन्होंने प्रजागण की जनसंख्या की अभिवृद्धि से अव्यवस्था देखकर विशद रूप में आमन्त्रण परिषद् का गठन कर उसके प्रमुख का चयन कर सुव्यवस्था बनाने का प्रयत्न किया। जब उससे भी व्यवस्था नहीं बनी तो राष्ट्र की परिकल्पना करके उसके अधिपति के रूप में प्रजा के परिपालनार्थ राजा का चयन किया गया।

विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः
सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥
सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्।
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद॥
सोदक्रामत्साहवनीये न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद॥
सोदक्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्।
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद॥
सोदक्रामत्सा सभायां न्यक्रामत्।

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद॥
सोदक्रामत्सा समितौ न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद॥
सोदक्रामत्सामन्त्रणे न्यक्रामत्।
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद॥

अथर्व० ८.१०.१-७

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत। अथर्व० १५.८.१

अथर्ववेद में राजा का लक्षण दिया गया है। राजा को प्रजा का मङ्गल करने वाला, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाला, शत्रुओं को वश में करने वाला, हिंसा का शमन करने वाला, बलवान्, प्राकृतिक साधनों से अपना तथा प्रजा का पोषण करने वाला, सभी को अभय प्रदान करने वाला उन्नति करने वाला, तथा परम तेजस्वी होना चाहिए-

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्दुः पर एतु वा सोमपा अभयङ्करा॥ अथर्व० १.२१.१

राजा में अपने सभी शत्रुओं के विनाश का सामर्थ्य होना आवश्यक है। वह स्वयं बल बुद्धिशाली हो, सदैव शत्रुओं से युद्ध में विजय को प्राप्त करे। राजा राष्ट्र की सेवा करते हुए यह अनुभव करे कि मैं अपने राष्ट्र वीरों तथा प्रजाजन का मार्गदर्शन करते हुए समस्त राष्ट्र की उन्नति करता रहूँ -

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषा सहि।
यथाहमेषां वीराणां विराजति जनस्य च॥ अथर्व० २९.६

राजा शत्रुओं का शमन निहत्था तथा बिना सेना के नहीं कर सकता। उसके पास अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सुज्ञाता सैनिकों से युक्त सुदृढ सेना होनी चाहिए, जो अपने प्रहार से शत्रु को कम्पित कर दे, उनके

अन्दर भय कर दे। सेना को अपने विविध शस्त्रास्त्रों से शत्रु सेना के संहार में कुशल वीरों से युक्त होना चाहिये -

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परिवारय॥
उद्वेपय सं विजन्तां भियाऽमित्रान् संसृज।
उरुग्राहैर्बाधहंकैर्विध्याऽमित्राण्यर्बुदे॥ अथर्व० ११.९.५,१२

शत्रुओं का संहार करके राष्ट्र एवं समाज की रक्षा के लिए वीरों के पास अस्त्र-शस्त्र भी होना अत्यन्त आवश्यक है। वज्र, धनुष, बाण कुलिश, ऋष्टि, वाथी, खड्ग, असि, चक्र आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रों का चारों संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है, जिनका स्थालीपुलाक न्यायेन किञ्चिद् वर्णन किया जा रहा है।

वैदिक देवताओं में इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, विष्णु, यम, वायु आदि देवताओं का वर्णन मिलता है। जिनके वर्णन के प्रसङ्ग में ही इन अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में वीर सूक्त (अथर्ववेद-११.९), एवं युद्ध सूक्त (अथर्ववेद-११.१०) द्रष्टव्य हैं।

बाणों का सञ्चालन जब दिव्यास्त्र के लिए होता था तो मन्त्र से अभिमन्त्रित करके मन्त्रज्ञ योद्धा उस बाण से कहता था कि मन्त्र से संशित अस्त्र (अभिमन्त्रित लक्ष्य वेधन हेतु धनुष से प्रेरित शर को शरव्य कहते हैं) शरव्य धनुष से छोड़ा गया शत्रु का वेधन कर अमित्र शत्रु में जय प्राप्त कर और आगे बढ़कर शत्रु पक्षों के वीरों का विनाश कर-

अमीषां कश्चन मा मोचि। इनमें से किसी भी को न छोड़ो।

अवसृष्टा परा पत शरव्यो ब्रह्मशञ्सिते। जयामित्रान् प्रपद्यस्व जह्येषां वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन॥ अथर्व० ३.१९.८

चक्र- चक्र का वर्णन मात्र तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध हुआ है,

वज्रो वै चक्रम्। तै० १.४.४.१०

वज्र- वज्र का उल्लेख अनेक स्थलों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इन्द्र के वर्णन में **इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रगर्भे हवामहे। गुणं वृत्रेषु वज्रिणम्॥** (ऋग्० १.७.५) वज्र का कथन है। इसी प्रकार यजुर्वेद में **तिष्ठ रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वाश्वान्॥** (यजु० १०.२२) मन्त्र में भी वज्र का वर्णन प्राप्त होता है। सामवेद में वर्णित है कि त्वष्टा ने वज्र का निर्माण किया था-

अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्।

सामः ५.७.४.४८

यह वज्र सौ पर्व वाला था, जिससे इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था -

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रं हृति वृत्रदा शतक्रतु वज्रेण शतपर्वणा॥

अथर्ववेद में भी वज्र का अनेकत्र उल्लेख प्राप्त होता है-

यथा अभैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु॥ अथर्व० १.७१
इन्द्रो वज्रेणाधितिष्ठतु। अथर्व० २.१४.४

वज्र के पश्चात् सबसे अधिक चर्चित अस्त्र धनुष बाण है, जिनकी सर्वत्र चर्चा प्राप्त होती है। इन्द्र वज्र के साथ साथ धनुष बाण भी धारण करते थे, यह ऋग्वेद से ज्ञात होता है-

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य।
आसायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमाजामहीनाम्॥

ऋग्० १.२३.३

यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से धनुष बाण का वर्णन मिलता है-

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।

याश्च ते हस्त इषवः पराता भगवो व्वप॥ अथर्व० १६.९

विज्यन् धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।

अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः। अथर्व० १६.१०

सामवेद में बाण की चर्चा बुन्द शब्द से आई है-

आबुन्दं वृत्रहा ये जातः पृच्छाद्धि मातरम्।

क उग्राः के ह श्रृण्विरे॥ साम० २.२.८.२१६

अथर्ववेद में एक ही मन्त्र में अनेक शस्त्रास्त्रों का विवरण प्राप्त होता है, जिसमें धनुष बाण का, तलवार का, परशु का उल्लेख है-

ये बाहवो या इषवो धन्विनां वीर्याणि च।

असीन् परशूनायुधं चिन्ताकूतं च यद् धृदि॥ अथर्व० ११.९.१

कुलिश (वज्रविशेष), ऋष्टि (दोनों ओर धारवाली तलवार) एवं वाशी (आग्नेय अस्त्र) को कहते हैं। ऋग्वेद में कुलिश का उल्लेख वज्र के साथ एकत्र प्राप्त होता है-

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।

स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णऽहिः शयत उपवृक् पृथिव्या॥

ऋग् १.३२.५

तथैव ऋष्टि और वाशी (आग्नेयास्त्र) का भी एक साथ प्रयोग ऋग्वेद में प्राप्त होता है-

ये पृष्टतीभिर ऋष्टिभिः साकं वाशीभिंरञ्जिभिः।

अजायन्त स्वाभानवः॥ ऋग् १.३७.२

इसमें ऋष्टि शब्द भाला तथा वाशी शब्द कुठार या कुदाली का वाचक है।

यजुर्वेद में खड्ग, बाण, सृका तथा असि का एकत्र उल्लेख प्राप्त होता है- यहाँ खड्ग तथा असि यद्यपि दोनों तलवार के ही बोधक हैं

तथापि दोनों के स्वरूप में भेद है। सृका शब्द एक बाण विशेष का वाचक है-

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे इषुधिमते तरस्काराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसि मद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः।

यजु० १६.२१

तामसास्त्र या धूमास्त्र का विवरण यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में प्राप्त होता है- यथा यजुर्वेद में

'**अन्धेना मित्रास्तमसा सचन्ताम्**' यजु० १७.४४ तथा अथर्ववेद में **असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानेत्यभ्योजसास्पर्धमाना तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामनेन अन्यं न जानन्॥** अथर्व० ३.२.६

यह तामसास्त्र अथवा धूमास्त्र सम्भवतः वही है, जिसके प्रयोग से भयङ्कर धूम के होने से शत्रु सेना का संहार किया जाता है या प्रबल शत्रु पक्ष है तो वह तथा उनकी सेना सुरक्षित स्थान को प्राप्त कर लेते थे।

परशु का उल्लेख अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है।

तीक्ष्णयान् सः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहिताः॥

अथर्व० १.२७.१

गुलिकास्त्र- अथर्ववेद में गुलिकास्त्र का उल्लेख है। सीस धातु से निर्मित अस्त्र गुलिका अर्थात् बन्दूक की गोली मानी जाती है। जिसका उल्लेख इस प्रकार है-

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीर हा॥

अथर्व० २.११.३

फेन निर्मितास्त्र - ऐतिहासिकों के मतानुसार इन्द्र ने फेनास्त्र से असुर नमुचि के शिर का कर्तन किया था। यह जल का फेन था। फेन इतना कोमल होता है, उससे शिर कर्तन सम्भव है, यह विचारणीय है। यह प्रसङ्ग आधिदैविक एवं आध्यात्मिक निगूढार्थ को अभिव्यक्त कर सकता है। यह मन्त्र सामवेद में आया है-

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रो दवर्तयः।
विध्वा यदजयस्पृधैः॥ सामo २.३.८

श्रीमद् भागवत में देवासुर संग्राम में इन्द्र द्वारा असुर नमुचि के वध का उल्लेख है, जिसमें समुद्र के फेन के द्वारा इन्द्र ने उसका वध किया था। क्योंकि उसे ब्रह्मा का वरदान था कि वह शुष्क अस्त्र तथा आर्द्र किसी भी वस्तु से निर्मित अस्त्र से वध्य न हो। फेन न तो आर्द्र है न शुष्क है। इसीलिए उसका वध फेन के द्वारा किया। सम्मोहनास्त्र का उल्लेख अथर्ववेद तृतीय काण्ड के प्रथम तथा द्वितीय सूक्त में प्राप्त होता है। जिसका एक मन्त्र इस प्रकार है-

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रति दहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयन्तु परेषां निर्हस्तांश्च कृष्णवज्जातवेदाः।

इन सूक्तों की साधना कर प्रयोग करने से सेना सम्मोहित हो किंकर्तव्यविमूढ हो जाती थी।

विद्वेषणास्त्र -

शत्रु पक्ष में परस्पर विद्वेषण पैदा करने के लिए भी अस्त्र विशेष के प्रयोग का उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है-

विहृदय वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु न दधास्य वैनान्दुन्दुभे जहि।
अथर्व- ५.२१.१

शतपथ ब्राह्मण में भी अनेक अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है-

असिः- **वज्रो वा असिः**। ३.२.२.१२

इषुः- **वीर्यं वा इषुः**॥ ६.५.२१.१०

रुद्रस्य हीषुः॥ २.६.२.३१

परशुः- **वज्रो वै परशुः**। ३.६.४.१०

पाशः- **वारुणो वै पाशः**। ६.७.३.२

नैर्ऋतो वै पाशः। ७.२.१.१५

वज्रः/अभिः- **वज्रो वा अभिः**। ३.५.४.२

वज्रः वै स्फ्यः। ७.२.५.२०

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में वज्र इषु आदि का भी उल्लेख है, तैत्तिरीय ब्राह्मण में वज्र तथा पाश का तथा ताड्य एवं कौषीतकि ब्राह्मण में भी वज्र आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि सम्पूर्ण सैनिक विज्ञान का उल्लेख विस्तार से धनुर्वेद में मिलता है तथापि अस्त्र, शस्त्र एवं सेना के सूक्ष्म स्वरूप का विवेचन संहिताओं में प्राप्त होता है। यद्यपि धनुर्वेद में वर्णित सैन्य विज्ञान के स्वरूप का सम्प्रति प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता है। उसके जो अंश प्रसङ्गतः संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उन्हीं में से उदाहरणार्थ कुछ का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पशुयागविमर्श

प्रो० विजय लक्ष्मी[1]

पशुयाग का परिचय देते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक जी लिखते हैं- **संहिता और ब्राह्मण के अनुसार समस्त पशुयागों की प्रकृति अग्निष्टोम-अन्तर्गत अग्निषोमीय पशुयाग है, क्योंकि पशु-सम्बन्धी सभी क्रियाकलाप उसी प्रकरण में पठित हैं, परन्तु श्रौतकारों ने पशु-सम्बन्धी समस्त क्रियाकलाप निरूढ़पशुबन्ध में पढ़े हैं। अतः श्रौतसूत्रकारों के मतानुसार पशुयागों की प्रकृति निरूढ़पशुबन्ध हैं।**[2] व्याकरण के अनुसार **बन्धनार्थक पश** धातु के योग से पशु पद बनता है अर्थात् जो अपने विकारों, वासनाओं के कारण बन्धनों का निर्माण करता है, वह पशु है। इस आधार पर लोक में अविवेकी व्यक्ति के लिए भी पशु का प्रयोग कर लिया जाता है। पशु पद की इस वैयाकरणिक व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि जो क्रिया या याग पशुता अर्थात् बन्धनों से मुक्त करे, कर्ता को बन्धनों के जाल से छुड़ाने में सहायक हो, तादृश कर्म पशुयाग कहा जा सकता है। अधोलिखित मन्त्र भी अग्नि आदि के गुणों को धारण कर पशुता के निराकरण द्वारा आत्मशोधनरूपी यज्ञ का सन्देश

---

[1] **संस्कृत विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर।**

[2] मीमांसा-शाबर-भाष्यम्, प्रथम भाग, युधिष्ठिर मीमांसक,भूमिका भाग, पृ. १०५.१०६ बहालगढ़, सोनीपत

दे रहे हैं। तद्यथा - **अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।**[३] यहाँ सृष्टि के आधार अग्नि, वायु और सूर्य पशुरूप में पठित हैं तथा यजन के हेतु भी हैं। अग्नि के सूर्यरूप की चर्चा हो, लोकद्वारा भोजननिर्माण में प्रयुक्त अग्नि की बात की जाए अथवा जीवों के शरीरों की आधारभूत अग्नि का विषय हो, अग्नि के ये सभी रूप सभी कालों, धर्मों, जातियों, देशों, अवस्थाओं में सर्वथा स्वीकार्य एवं ग्राह्य हैं। वायु का सीधा सम्बन्ध सृष्टि की जीवनीशक्ति से है तथा सूर्य तो साक्षात् ही चराचर का प्राण है।[४] अग्नि, सूर्य और वायु का वैज्ञानिक पक्ष तो अद्भुत है ही, आधुनिक विज्ञानमय-विश्व की विश्वतोमुखी विकासयात्रा का मूल प्रकृति माँ के ये स्थूलभूत ही तो हैं। इन महाभूतों के सूक्ष्मरूप को जानने वाला योगी, आचार्य पतञ्जलि के अनुसार अग्नि से जलता नहीं है, वायु के साथ सङ्गतिकरण द्वारा उड़ने में भी समर्थ होता है तथा जल में जाकर भी उसके प्रभाव से मुक्त बना रहता है।[५] इन प्राकृतिक महाभूतों से याग करने की विधि तथा पद्धति से समस्त संसार परिचित है और जब उस विधि का पालन करने में किसी कारणवश, अज्ञानतावश कोई त्रुटि हो जाती है तभी शक्ति के अभाव के रूप में, रोग के रूप में, विनाश के रूप में तथा कभी कभी तो विश्वव्यापी आपदा के रूप में उसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रकृति द्वारा वरदान स्वरूप प्रदान किए गए इस अमूल्य याग को यथोचित रूप से

---

[३] यजुर्वेद २३.१७

[४] ऋग्वेद १.११५.१ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

[५] योगदर्शन ३.४५ ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च- इस सूत्र के भाष्य में आचार्य व्यास लिखते हैं- **पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धियोगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति । नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति । नाग्निरुष्णो दहति । न वायुः प्रणामी वहति । अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ।**

करने वाला पुरुष स्वस्थ, परिपुष्ट रहता हुआ जीवनयापन करता है, वर्तमान में भी ऐसे मनुष्य हैं जो सूर्य से ऊर्जा लेने की विधा को जानकर बिना अन्न इत्यादि ग्रहण किए केवल सूर्य की शक्ति से जीवित हैं। प्राचीन काल में भी ऐसे व्यक्ति होते थे, आचार्य पतञ्जलि के **अब्भक्षः, वायुर्भक्षः अब् एव भक्षयति, वायुरेव भक्षयति** कथन से इसकी पुष्टि होती है।

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक जी ने पाँच प्रसिद्ध पशुयागों का उल्लेख करते हुए लिखा है- वैदिक वाङ्मय में **पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध, अविमेध और अजमेध नाम के पाँच प्रसिद्ध पशुयाग हैं।**[६] इन सभी पदों में पठित **मेध** किस अर्थ का वाचक है, यह विचार करने से पूर्व जानना आवश्यक है कि अश्व आदि पशुओं की हिंसा के विषय में वेद का मन्तव्य क्या है? इन पशुओं की हिंसा करने वाले को दण्ड का विधान करता हुआ ऋग्वेद कहता है-

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।[७]

अर्थात् जो राक्षस पुरुष सम्बन्धी मांस से, अश्व अथवा अन्य पशु के मांस से स्वयं को जोड़ता है तथा जो अघ्न्या के क्षीर का हरण करता है, हे अग्नि! ऐसे राक्षसों के सिर को अपने तेज से हरण कर ले। अथर्ववेद भी मांसाहारी को विनष्ट करने का आदेश देता है-

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि।[८]

मीमांसक जी प्रस्तुत प्रकरण में यजुर्वेद के **इमं मा हिंसीर्द्विपादं**

---

[६] युधिष्ठिर मीमांसक मीमांसा- शाबर-भाष्यम्, प्रथम भाग, बहालगढ़ (सोनीपत हरयाणा), द्वितीय संस्करण, श्रौत-यज्ञ-मीमांसा, पृ १५४,

[७] ऋग्वेद १०.८७.१६

[८] अथर्ववेद ८.६.२३

पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। अश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये... अग्ने मा हिंसी परमे व्योमन्। इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गां मा हिसीरदितिं विराजम्। अविं जज्ञाना... अग्ने मा हिंसी परमे व्योमन्। इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।[९] आदि मन्त्रों का उद्धरण देकर लिखते हैं कि पुरुष, अश्व, गौ और अवि पशुओं की हिंसा न करने का साक्षात् उल्लेख है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यजुर्वेद का यह अध्याय याज्ञिकों के मत में अग्निचयन में विनियुक्त है।[१०]

विनियोग की दृष्टि से यजुर्वेद का तीसवां और इकतीसवां अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। श्रौतसूत्रों के अनुसार ब्राह्मणादि १८४ पुरुष पशुओं को यूप से बाँधने का निर्देश है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार इन सभी को सहस्रशीर्षादि मन्त्रों द्वारा स्तुति के पश्चात् छोड़ दिया जाता है-

नियुक्तान् ब्रह्माभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति।

कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्।[११]

पुरुषमेध का निर्वचन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है- **इमे वै लोकाः पूः, अयमेव पुरुषः योऽयं पवते। सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः। यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधः। तद्यदस्यान्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधः। अथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषानालभते तस्मादेव**

---

[९] यजुर्वेद १३.४७ ,१३.४२, १३.४८, १३.४३, १३.४४, १३.५०

[१०] वहीं श्रौत-यज्ञ- मीमांसा में, पृ.१५५

[११] कात्यायन श्रौतसूत्र २१.१.११,१२। शतपथ ब्राह्मण १३.६.२.१३ भी द्रष्टव्य है- तान् पर्यग्निकृतान् एवोदसृजत्, तद्देवत्या आहुतिरजुहोत्, ताभिस्ता देवता अप्रीणात्। ता एनं प्रीता अपृणन् सर्वकामैः।

पुरुषमेधः।[१२] यहाँ पर **मेध्यान् पुरुषान् आलभते** यह वाक्य विशेषरूप से अवधेय है। अमरकोशकार ने **पूतं पवित्रं मेध्यं तु वीध्रं तु विमलार्थकम्** यह निर्देश कर मेध्य पद को पवित्रता के पर्यायवाचियों में परिगणित किया है, जो निर्दिष्ट करता है कि पवित्र अर्थात् सत्त्वप्रधान मानवों का चयन पुरुषमेध के लिए किया जाए, पूतान्तःकरण वाले मानवों को समाज को दिशानिर्देश देने के लिए एकत्रित किया जाना तो बुद्धिसङ्गत भी प्रतीत होता है, उपदेश, सन्देश के अनन्तर उनका स्वस्थान लौट जाना भी प्रकरणगत औचित्य को सिद्ध करने में सहायक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुरुषमेध में पुरुषों को न तो बाँधा ही जाता है और न ही उनकी हिंसा की जाती है। प्रश्न उठता है कि **मेध** पद तो अश्वमेध, गोमेध, अविमेध, अजमेध में सभी में समान है फिर अश्वमेधादि में किस आधार पर इन प्राणियों की हिंसा की जाती रही, यह बुद्धि के तर्क तथा हृदय की संवेदना दोनों से परे है।

अजमेध में आगत अज तो - **न जायत इति अजः** अथवा **न अजति गच्छतीति अजः** अर्थात् जो उत्पन्न नहीं होता अथवा जो निरन्तर गतिमान् है ऐसी आत्मा के साथ मेध अर्थात् (**मेधृ सङ्गमे च, चकारात् मेधाहिंसनयोः**) सङ्गम। मेध पद का अर्थ हिंसा ही क्यों लिया जाए , सङ्गम, संयोजन, सम्मिलन क्यों नहीं? मेधा का अर्थ कोषकारों के अनुसार देखें तो कल्पद्रुमकार लिखते हैं- **मेधा, स्त्री, मेधते सङ्गच्छते अस्यामिति। धारणावती बुद्धिः।** अमरकोश, वाचस्पत्यम्, मोनियर-विलियम्स, पुराना इनसाइक्लोपीडिया सभी मेधा के इसी अर्थ से सहमत हैं, हाँ वामन शिवराम आप्टे अनेक अर्थों के साथ sacrifice अर्थ भी मानते हैं। इतने सारे अर्थों को छोड़कर एक विशेष अर्थ पर ही दृढ़ होने

[१२] शतपथ ब्राह्मण १३.६.२.१

का क्या कारण है, यह समझ नहीं आता। जबकि आत्मा के साथ मिलन, आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठ होना धर्म का मुख्य उद्देश्य है और मीमांसादर्शन का तो आरम्भ ही **अथातो धर्मजिज्ञासा** का उद्घोष कर धर्म की जिज्ञासा, उसकी मीमांसा से होता है और धर्म का मूल अहिंसा है।

प्रश्न ये उठता है कि अहिंसा की प्रधानता वाला धर्म हिंसापरक कैसे हो गया और वह हिंसा समाज में मान्य क्यों हो गई, किसी ने इसका विरोध क्यों नहीं किया? पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक इस विषय का विवेचन करते हुए निरुक्त के **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः** वचन को उद्धृत कर कहते हैं- **पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभावीर्य... धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषाः बभूवुः**। वहीं वे उत्पलकृत बृहत्संहिता, पराशरकृत-ज्योतिषसंहिता का प्रमाण देते हैं- **तेषां क्रमादपचीय-मानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां तेजोऽन्तर्दधे।** आचार्य चरक का मत भी उन्होंने प्रमाणरूप में उपस्थापित किया है- **ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोध-मानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः।** प्रकृत प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण का वक्तव्य भी अवधेय है- **ताः इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति।**[१३] जैसे जैसे व्यक्ति में कामना बलवती होती है वैसे वैसे ही वे विकार व्यक्ति के विनाश की अन्तहीन पटकथा लिखनी आरम्भ कर देते हैं। समस्त मानवजाति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। जीवन की अविचारित भागदौड़ में व्यक्ति भले ही इसका अनुभव न करे किन्तु स्वाध्यायशील, अध्यात्म का पथिक इसके प्रभाव को प्रतिदिन अपने अन्तस् में अनुभव करता

[१३]मीमांसा..., मीमांसक, श्रौत..., पृ. १०७

हुआ, इनकी गतिविधियों तथा वातावरण में चतुर्दिक् विकारों से निकलने वाली सूक्ष्म तरङ्गों का प्रभाव देखता रहता है। ऐसे (लोभादि वृद्धि) काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने कराने के लिए यज्ञरूपी रूपकों की कल्पना की। यज्ञ का मूल उद्देश्य दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना ही है, इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १.१९ में सङ्केत किया है- **याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।**[१४] अर्थात् जैसे पुष्प, फलोत्पत्ति में कारण होता है वैसे ही याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान दैवतज्ञान में, ब्रह्माण्ड को समझने में उपयोगी होता है। याज्ञिक व्याख्या के सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान स्थान **इत्यधियज्ञम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्** पठित है, जो सङ्केत देता है कि यज्ञपरक, विनियोगपरक मन्त्रों का आधिदैवत एवं आध्यात्मिक पक्ष भी है। मीमांसक जी भूगोल तथा खगोल के मानचित्र का उदाहरण देकर कहते हैं कि मानचित्र बनाने में जरा सी असावधानी भी यथास्थिति का बोध कराने में तो असमर्थ होती ही है, साथ ही अज्ञान को भी बढ़ाती है। इसका अतीव सजीव उदाहरण गूगल मैप है, गूगल मानचित्र के आधार पर यात्रा करते हुए उसके सङ्केत का सही पालन न करने पर यात्री की यात्रा की दिशा बदल सकता है, उसकी यात्रा के समय में भी परिवर्तन आ सकता है। वहीं दूसरी ओर यदि मैप डाउनलोड करने वाले को उस मार्ग पर चल रहे निर्माण इत्यादि की नवीनतम जानकारी न हो तो तब भी मानचित्र के अनुसार यात्रा करना कठिनाई उत्पन्न कर देता

---

[१४]मीमांसक, श्रौत..., पृ.१०७। अथर्ववेद ११.३.५२,५३ के अनुसार प्रजापति अपने द्वारा निर्मित लोकों के ज्ञान के लिए यज्ञों की कल्पना की। मीमांसक जी ने प्रस्तुत प्रकरण को बड़ी सूक्ष्मता, शास्त्रीय गहनता से श्रौत-यज्ञ-मीमांसा नामक निबन्ध में विवेचित किया है।

है। इस तरह की परेशानी के लिए पथिक मैप को दोषारोपण करके बैठ नहीं जाता बल्कि गन्तव्य के लिए उचित मार्ग की खोज करता है। इसी प्रकार यह यज्ञ भी सृष्टियात्रा का मानचित्र है, **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**। नाभि का निजस्थान से जरा सा हिल जाना भी, शरीर में अनेक अव्यवस्थाओं को जन्म देता है, यह सभी को प्रत्यक्ष ही है। आयुर्वेद और अध्यात्म की दृष्टि से नाभि अद्भुत परिणामदायिनी है। यज्ञसम्बन्धी प्रत्येक कर्म को यथाविधि करने का आग्रह इसीलिए रहा होगा कि इसे समझने में की गई असावधानी सृष्टि की सङ्गति में असङ्गति के साथ साथ व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में उलझन पैदा कर सकती है। शनैः शनैः सत्त्व की क्षीणता तथा रजस्तमस् की वृद्धि की परिणति मानवों की चेतना में ह्रास के रूप में हुई। चैतन्य की दरिद्रता का प्रभाव समाज के सभी अङ्गों पर पड़ा फिर चाहे वे यज्ञ करने वाले हो अथवा कराने वाले। यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराने वालों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इनमें से बहुत बड़ा वर्ग स्वाध्याय, तप से विमुख हो गया। इस प्रकार लोभ और अहंकारवश जनमानस को परलोक का भय दिखाकर अनेक करणीय-अकरणीय विधि-विधानों, आडम्बरों, प्रदर्शनों का प्रवेश याज्ञिक प्रक्रिया में हो गया।

यज्ञ के सम्बन्ध में शाङ्खायन आरण्यक (४.५) के इस वचन से भी पूर्वकथन की पुष्टि होती है कि- **तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वांचक्रुः। अपि च - तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।**[१५] अर्थात् यज्ञों का प्रवर्तन त्रेताकालिक है जबकि जनसामान्य तो सृष्टिप्रवर्तन के साथ ही द्रव्ययज्ञों की उत्पत्ति भी मानता है, लेकिन उपरिनिर्दिष्ट सन्दर्भों के आलोक में

[१५] मुण्डकोपनिषद् १.२.१। इसके भाष्य में आचार्य सायण- त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्ताः

द्रव्ययज्ञों का प्रचलन तो अवान्तरकालीन सिद्ध होता है, हाँ **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तस्मात् कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।**[१६] द्वारा गीताकार जिस यज्ञ का सन्देश दे रहे हैं, इसका आरम्भ सृष्टि के आदि में हुआ हो तो बात भिन्न है।

पशुयागों के सम्बन्ध में **संज्ञपन** पद भी विवेचना की आवश्यकता रखता है क्योंकि संज्ञपन का अर्थ हिंसा लिया जाता है। कौमुदीधातु में **ज्ञा मारणतोषणनिशामनेषु** (भ्वादि, परस्मैपदी, सकर्मक, सेट्) अर्थ में पठित है। इंग्लिश में इसके अर्थ- to kill, to please, to satisfy, to perceive, to understand हैं। शब्दकल्पद्रुम नामक कोष में **निशामनम्** का अर्थ **दर्शनम्, आलोचनम्** लिखकर **श्रवणम् इति हेमचन्द्रः** लिखा है, स्पष्ट है कि निशामनम् का अर्थ देखना, निरीक्षण करना और सुनना भी है। आचार्य उदयवीर शास्त्री इस सम्बन्ध में लिखते हैं- **पूर्णमासी के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम तिथि-नाम के आधार पर पूर्णमासेष्टि है, इसी प्रकार अमावस्या के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम तिथि-नाम के आधार पर अमावास्येष्टि होना चाहिए था, पर ऐसा न होकर उसका नाम दर्श है**। यह नाम उस समय विशेष निमित्त से रखा गया ज्ञात होता है। वह निमित्त है , उस अवसर पर दर्शन, अवलोकन अर्थात् स्वास्थ्य आदि की जांच पड़ताल के लिए पशुओं को सामूहिक रूप से एकत्रित किया जाना। यह अर्थ ज्ञा धातु के निशामन अर्थ में अन्तर्हित है।[१७] तुष्ट करना, प्रसन्न करना भी इस धातु का एक अर्थ है तो मारने अर्थ में ऐसा क्या वैशिष्ट्य है कि अन्य सभी अर्थों

---

[१६] गीता२.६२-६३ ध्यायतो विषयान् पुंसः ...

[१७] मीमांसा दर्शनम्, विद्योदयभाष्यम्, आचार्य उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली ६, भूमिका पृ.१६

को धता बताकर उसे ही ग्रहण किया जाए। यदि मारना अर्थ ही मुख्य है तो महामेधावी आचार्य पाणिनि के द्वारा धातुपाठ में अन्य अर्थों को रखने का क्या औचित्य है, अथवा यदि हिंसा को प्रधान मानना होता तो हिंसार्थक धातु पृथक् ही क्यों न रख दी जाती।

पशुयाग के प्रति अनावश्यक आग्रह एवं संवेदनशून्यता के परिणामस्वरूप आई पतन की पराकाष्ठा तो देखिए- **याज्ञिकपशुवधोऽपि पशूनां स्वर्गप्रापकत्वात् पशूपकारक एव। ...यज्ञे पशूनामुपयोगस्तु पशुकल्याणाय भवति। ... यस्मात् पशुरपकृष्टयोनेर्विमुक्तो देवयोनौ जायते। ...पशुयोनिनिवारणपूर्वक-हिरण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्वात्।**[१८] ऐसा आकर्षक पुण्यलोक पशु को दिलाने के लिए इतना बड़ा उद्यम किया जा रहा है, यदि ऐसा ही है **आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्** के निर्देशानुसार इस पुण्यप्रदायक कर्म का शुभारम्भ स्वयं को उत्तमलोक की प्राप्ति कराकर क्यों न किया जाए? भूलोक के सभी मनुष्यों को उस लोक की प्राप्ति क्यों न करा दी जाए? क्योंकि दिव्यलोकों और हिरण्यशरीरों की प्राप्ति कौन नहीं करना चाहेगा? फिर कुछ पशुओं को ही क्यों, सभी को उत्तम शरीर एवं योनियों की प्राप्ति होनी चाहिए। किसी को वञ्चित क्यों रखा जाए? इतने हिंसाप्रधान कर्म को, पापपूर्ण कृत्य को पुण्य कहना कितना बड़ा पाप है? यज्ञों में हिंसा कैसे आरम्भ हुई? इसकी सूचना महाभारत के अध्ययन से भी मिलती है, वहाँ पठित है-

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैःसम्प्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्यभासमिवानृतम्।[१९]

अपि च-

---

[१८] वेदार्थपारिजात, करपात्री महाराज, भाग २, पृ.१९७७, १९७८

[१९] महाभारत, शान्तिपर्व २६३.६

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः।[२०]

अर्थात् धर्ममर्यादा से भ्रष्ट, मूर्खों, नास्तिकों, आत्मा के विषय में सन्देह करने वालों तथा अप्रसिद्ध लोगों ने हिंसा का समर्थन किया है। मनुष्य अपनी इच्छा से ही यज्ञ की बाह्यवेदी पर पशुओं की बलि देते हैं। भीष्म हिंसा के सम्बन्ध में उठने वाली आशङ्का का सर्वथा परिहार करते हुए कहते हैं कि यदि कोई कहे कि मनुष्य यूपनिर्माण के उद्देश्य से जो वृक्ष काटते हैं और यज्ञ के उद्देश्य से पशुबलि देकर मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है, अपितु धर्म ही है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करता।[२१] तथा च-

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः।
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम्।[२२]

कतिपय उद्धरण तो पशुहिंसा को रोगोत्पत्ति का कारण सिद्ध करते हैं, यथा- **आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीयाः बभूवुः, नालम्भनाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता**

---

[२०] वहीं २६५.४, ५

[२१] वहीं २६५.८

[२२] वहीं २६५.९, १०

पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः ... अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।[२३] अर्थात् आरम्भकाल में यज्ञों में पशुओं का आलभन अर्थात् स्पर्श किया जाता था उन्हें मारा नहीं जाता था। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वशिष्ठधर्मसूत्र भी द्रष्टव्य है , जहाँ कहा गया है कि प्राचीनकाल में ईर्ष्या, अनशन और जरा ये तीन ही रोग थे, गौवध के कारण ९८ रोग उत्पन्न हो गए। चरक और वशिष्ठधर्मसूत्र दोनों ने ही नृषध्र को ही यज्ञ में गौ हिंसक के रूप में उद्धृत किया है। यथा-**त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा। पृषध्रस्त्वघ्न्यां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्।**[२४] मुण्डकोपनिषद् में इन दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्यादि अहिंसक किन्तु सकाम कर्मों को निम्न कोटि का मानते हुए इन कर्मों के प्रति लोकों को सावधान किया गया है।[२५]

अमरकोश के अनुसार **यज्ञ-सव-अध्वर-सप्ततन्तु-मख-क्रतु-इष्टि -वितान-स्तोम-मन्यु-संस्तर-स्वरु-सत्र-हव** ये चतुर्दश पद याग के पर्यायवाची हैं। पाणिनीय धातु के अनुसार यज् धातु **देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु** इन अर्थों वाली है इस धातु से भाव अर्थ में घञ्[२६] प्रत्यय करने पर याग (इज्यते) पद निष्पन्न होता है। **दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु** तथा कुत्रचित् **तेवृ देवृ- देवने** धातु से देव पद की निष्पत्ति अङ्गीकार की गई है किन्तु आचार्य यास्क **देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थाने**

[२३] चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १९.४

[२४] वशिष्ठधर्मसूत्र २१.१३

[२५] मुण्डकोपनिषद् १.२.७ प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनराविशन्ति । १.२.१० इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ....

[२६] अष्टाध्यायी ३.३.१८

भवतीति द्वारा देव शब्द का सुन्दर निर्वचन करते हैं, जो **दिवु क्रीडाविजीगिषा...** के अधिक निकट दिखाई देता है। इस आधार पर यागपद तथा देवपद हिंसा अर्थ का स्पर्श भी करते दिखाई नहीं देते।

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर तो पशुयागों में हिंसा का कोई कारण सिद्ध नहीं होता। कतिपय उद्धरण हिंसापरक प्रतीत होते हैं–इस कथन के उत्तर में निवेदन किया जा सकता है कि उनकी अपेक्षा कई गुना अधिक स्थानों पर हिंसा का औचित्यपूर्ण पुरजोर निषेध भी तो है। निष्पक्षी, विवेकशील मानव के समर्थन तथा निरसन, प्रवर्तन और निवर्तन का आधार भी कार्य एवं परिणाम होना चाहिए। नीतिकार उद्बोधित भी कर रहे हैं- **गुणवदगुणवद् वा कुर्वता कार्यजातं परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।** पशुयागों में अथवा कहीं अन्यत्र हिंसा न करने का एक मुख्य कारण स्वानुभूति भी तो है। निस्सन्देह स्वानुभव संसार के सभी प्रमाणों में प्रबलतम प्रमाण है।[२७] यह प्रमाण बताता है कि हमें स्वशरीर एवं शरीराङ्गों की हिंसा किसी स्तर पर भी स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती, फिर क्या अन्य प्राणी ऐसा अनुभव नहीं करते होंगे? अब तो वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सिद्ध भी हो चुका है कि पशु को चाहे बेहोश करके मारा जाए तब भी हिंसा की संवेदनाएं तो आती ही हैं। उसमें भी यज्ञ जैसे पुनीत कार्य में की गई हिंसा तो सर्वथा निन्दनीय है, फिर उसका आधार पशुयाग हो अथवा अन्य कुछ। अन्त में उन सभी आत्माओं को सादर वन्दन, जिन्होंने निर्भयता और पुरुषार्थ से इन यागों के व्याज से हो रही हिंसा के प्रति जनसामान्य में चेतना की प्रबल लहर प्रवाहित की।

---

[२७]नीतिशतकम्, (भर्तृहरि) का मङ्गलाचरण- **स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।**

मीमांसा दर्शन एवं अजमेध - एक चिन्तन

डा० रुचि गुप्ता[१]

षड् भारतीय दर्शनों में अन्यतम एवं अत्यन्त प्राचीन मीमांसा दर्शन पर विचार करने से पूर्व सर्वप्रथम 'मीमांसा' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने पर हम पाते हैं कि विचार अर्थ में प्रयुक्त मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में सन् प्रत्यय करके यह शब्द निष्पन्न होता है[२]। इस प्रकार मीमांसा किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ विवेचन या निर्णय करने वाले शास्त्र का नाम है। वेदों में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग बहुतायत में मिलता है। यह शब्द जहाँ वैदिक संहिताओं में क्रिया रूप में प्रयुक्त हैं[३] वहीं संज्ञा रूप में 'मीमांसा' शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों[४] आरण्यकों[५] एवं उपनिषद्[६] ग्रन्थों में मिलता है। ब्राह्मण एवं उपनिषदों में तो मीमांसा शब्द अनेकशः क्रिया एवं संज्ञा दोनों ही रूपों में यज्ञ सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत करता है।[७] इस

---

[१] **उपाचार्या, संस्कृत विभाग, दि. जैन महाविद्यालय बड़ौत, जिला - बागपत (उ०प्र०)**

[२] द्रष्टव्य भूमिका 'अर्थ संग्रह'-टीका श्री सत्य प्रकाश शर्मा, साहित्य भण्डार मेरठ, पृ.- ०१

[३] उत्सृज्यां नो उत्सृज्यामिति मीमांसते ब्रह्मवादिनः। तै०सं० -७/ ५/७/१

[४] शतपथ ब्राह्मण - १/३/५/१२, ४/१/१/१६, ४/२/१/१७ आदि। तै. ब्रा. - ३/२/४/६

[५] तै. आरण्यक - १/१/१२/५

[६] सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। तै. उपनिषद् - २ / ८ / १

[७] "ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसते, यस्तल्पे वा उदके वा विवाहे वा मीमांसा तम् एता उपेयुः।

प्रकार 'मीमांसा' शब्द की प्राचीनता स्पष्ट है। वैदिक काल से ही इस शब्द का प्रयोग गहन चिन्तन के अर्थ में होता चला आ रहा है तथा धीरे-धीरे आगे चलकर इस शब्द का अर्थ धर्म के सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार करना, व्याख्यान देना तथा तर्क के आधार पर संदेहात्मक विषयों का निर्णय करना हो गया।[८] यही वैचारिक पद्धति कालान्तर में मीमांसा दर्शन के रूप में विकसित हुयी।

वेदों में जिस कर्म एवं ज्ञान का उपदेश दिया गया है, उसको व्यापक अर्थ में समझाने के लिये हमारे प्राचीन ऋषियों-महर्षियों ने अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों एवं वेदान्त आदि का प्रणयन किया। वेदों की सहस्र शाखाओं का प्रवचन किया गया। उस सन्दर्भ में वायु पुराण एवं[९] महाभाष्य[१०] आदि को देखा जा सकता है। यद्यपि कालक्रम से उन सभी शाखाओं के नाम भी सम्प्रति उपलब्ध नहीं हो पाते हैं तथापि यह सर्वमान्य है कि वेदों के व्याख्यापरक ग्रन्थों का एक अथाह महासागर रहा है। परन्तु जिस प्रकार अथाह महासागर में केवल रत्न ही नहीं विराजमान होते वरन् भयङ्कर जीव-जन्तु भी उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सुदीर्घ अवधि में वैदिक कर्मकाण्डों के अनेक वाद उत्पन्न हो गये। कर्मकाण्ड एवं ज्ञान काण्ड में परस्पर भयङ्कर विरोध तथा एक दूसरे की निन्दा चरम कोटि तक पहुँच गयी, वेद मन्त्रों को अनर्थक तक कहा जाने

ताण्ड्य ब्रा. - ६/५/९/२३/४/२

उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते। कौषी० ब्राह्मण- २/९

प्राचीनशाला औपमन्यवः महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रुः - को नु आत्मा किं ब्रह्मेति। - छन्दो. उपनिषद् ५/११/१

[८] धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी.काणे- भाग - ५, पृ० - ८८

[९] वायु पुराण - २३ वें अध्याय के श्लोक ११५ से २२८ तक

[१०] महाभाष्य नवाह्निक

लगा।[११]

तब मीमांसकों ने विभिन्न वेद-शाखाओं, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि का तात्पर्य प्रकट करने एवं विरोध समाहार के लिये मीमांसा शास्त्र का प्रवचन किया। मीमांसा दर्शन का उपलब्ध मूल ग्रन्थ आचार्य जैमिनि कृत ''मीमांसा सूत्र'' है। किन्तु इसके परिशीलन से ज्ञात होता है कि इस दर्शन के सिद्धान्तों को मानने वाले विद्वानों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। यद्यपि उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ सम्प्रति अनुलब्ध हैं तथा वे सभी आचार्य भी नाम शेष हैं तथापि उनके सिद्धान्तों का दर्शन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्राप्त हो जाता है।

प्राचीन विचारकों, विद्वानों ने यज्ञों के विभिन्न भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है।[१२] जिनका विधान साक्षात् श्रुतियों में मिलता है, उन्हें श्रौत यज्ञों की संज्ञा दी गयी तथा जिनका विधान गृह्यसूत्रों या धर्मसूत्रों में मिलता है, उन्हें स्मार्त यज्ञ कहा गया। इसके अतिरिक्त नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य यज्ञ आदि के रूप में भी यज्ञ भेदों का वर्णन मिलता है। प्रक्रियांश की दृष्टि से श्रौत यज्ञों का प्रकृति याग, विकृति याग तथा प्रकृति-विकृति याग आदि के रूप में भी विभाजन मिलता है।[१३]

वेद की उपलब्ध शाखाओं में, विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ यज्ञों के अवयव रूप पशु यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है। वैदिक वाङ्मय में पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध, अविमेध एवं अजमेध नाम से पाँच प्रसिद्ध याग बताए गये हैं।[१४]

---

[११] ''जैमिनीय - मीमांसाभाष्यम्'' आचार्य शबर स्वामिविरचितम्, व्याख्याकार युधिष्ठर मीमांसक - रामलाल कपूर ट्रस्ट - पृष्ठ सं० - ०८

[१२] श्रौतयज्ञ मीमांसा - युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट - पृष्ठ सं० -१२३-१२८

[१३]वही, पृष्ठ सं० - १२९ - १३४

[१४] वही, पृष्ठ सं० - १९७

यद्यपि 'अजमेध' के नाम से कोई स्वतन्त्र कर्म ''अश्वमेध'' आदि की भाँति प्राप्त नहीं होता तथापि अनेक याज्ञिक कर्मकाण्डों में पशुयागों में 'अज' का ही आलभन होता है।[१५] अतः 'अज' एवं 'मेध' इन दोनों ही शब्दों की मीमांसा आवश्यक है। 'अज' शब्द के व्युत्पत्ति भेद से दो अर्थ सम्भव हैं **''अजति सातत्येन गच्छति इत्यजः''** अर्थात् जो सतत गतिमान् रहे, वह पदार्थ तथा दूसरा यह कि **"यः न जायते इत्यजः"** अर्थात् जो उत्पन्न नहीं होता, वह अज है, यथा ईश्वर, प्रकृति आदि।[१६]

'अज' शब्द का वैदिक वाङ्मय में बहुधा उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट **''अजैर्यष्टव्यम्''** आदि वाक्यों में 'अज' शब्द बकरे का वाचक है, अथवा न उत्पन्न होने वाले अर्थ का; इसकी मीमांसा न करके 'अज' शब्द का अर्थ छाग अर्थात् बकरा समझने से एवं व्यक्तिगत कारणों यथा स्वयं मांसाहारी होने के कारण यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई।[१७] इस विषय में महाभारत के शान्तिपर्व के एक संवाद को समझा जा सकता है कि ''एक बार देवों ने कहा कि 'अज' से यज्ञ करना चाहिए ऐसा विधान है और वह अज भी छाग को समझना चाहिये अन्य पशु को नहीं। ऋषियों ने कहा-बीजों से यज्ञ करना चाहिये यही निश्चित रूप से वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है। छाग को नही मारना चाहिये। यह सज्जन पुरुषों का धर्म नहीं है, जहाँ पशुवध होता है।[१८]

---

[१५] वही, पृष्ठ सं० - २१२

[१६] वही, पृष्ठ सं० - २१२

[१७] वही, पृष्ठ सं० - २२९

[१८] महाभारत, शान्तिपर्व - अध्याय - ३३७

''अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

इसी प्रकार वायु पुराण में भी कहा गया है कि ''हे सुर श्रेष्ठ ! उन बीजों से यज्ञ करो जिनमें हिंसा नहीं है जो तीन वर्ष से अधिक पुराने हों एवं खेत में उगने में असमर्थ हों। इस श्लोक में 'अज' का अर्थ अप्ररोही शब्द से कहा गया है अर्थात् उन बीजों से यज्ञ करो, जो खेतों के लिये भी उपयुक्त न रहे हों।[१९] यह कथन आर्यावर्त के सतत अहिंसा प्रिय उन ऋषियों की उच्चतम पराकाष्ठा को प्रकट करता है, जो यज्ञ के लिये बीजों का भी इतना ध्यान रखते हैं। अतः हमारे आर्ष ग्रन्थों में पशुहिंसा आदि का वर्णन नहीं है, यह उत्तर काल में प्रक्षेप हुआ है। इसी प्रकार मत्स्य पुराण को भी देखा जा सकता है, जहाँ तीन वर्ष से अधिक पुराने बीजों से यज्ञ करने के लिये उल्लेख है।[२०]

'स्याद्वादमञ्जरी' के कर्ता ने भी 'अज' शब्द के विषय में कहा है कि वेदों के 'अज' से यज्ञ करना चाहिये ऐसे वाक्यों को कुछ मिथ्याचारी जन 'अज' का तात्पर्य बकरे से लेते हैं। किन्तु ज्ञानी जन 'अज' शब्द को उन बीजों के अर्थ में लेते हैं, जो उगने में असमर्थ हों यथा तीन वर्ष पुराने जौ, व्रीहि आदि, पाँच वर्ष पुराने तिल, मसूर आदि, सात वर्ष पुराने सर्षप आदि।[२१]

ऋषयो ऊचुः
बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं न हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः।

[१९] वायु पुराण - ५७/१००, १०१

[२०] यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः १ -१४३/१४

[२१]स्माद्वादमञ्जरी - श्लोक २३ की व्याख्या, पृष्ठ सं० - १०७ - १०८

''तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम् इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं

इस प्रकार जब 'अज' शब्द के अन्य अर्थ भी हैं, तब स्वार्थवश उसका अर्थ बकरा से ही करना नितान्त अतर्कसंगत है। वेदों में किसी भी पशु की हिंसा न करने का स्थान- स्थान पर स्पष्ट उल्लेख है।[२२] यजुर्वेद के मन्त्रों में स्पष्ट कथन है कि पशुओं को न मारो, गाय को न मारो, द्विपाद को न मारो, एक खुर वाले को न मारो, भेड़ बकरी आदि को न मारो।[२३]

अथर्ववेद भी स्पष्ट कहता है कि यज्ञ में गाय-कुत्ते आदि पशुओं की बलि देना नितान्त मूर्खता का कार्य है।[२४]

इसी प्रकार 'मेध' शब्द की मीमांसा करने पर अर्थ निकलता है -

१-मेधा अर्थात् बुद्धि २-लोगों में प्रेम बढाना, ३- हिंसा[२५]

इस प्रकार मेध शब्द का अर्थ केवल हिंसा ही नहीं है। यही कारण है कि बुद्धि की तीव्रता के कारण हम व्यक्ति को मेधावी कहते हैं। स्पष्ट है कि 'मेधावी' शब्द में हिंसा का अर्थ कहीं नहीं है।[२६]

व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्य-वार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसायन्ति''।

[२२]वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डा० कपिल देव द्विवेदी, पृष्ठ सं० - ३१३

[२३] मा हिंसी द्विपादं पशुम् ...। मा हिंसीरेकशफं पशुम्। अदितिं ... मा हिंसीः। यजुर्वेद - १३.४७ - ५०

[२४] अथर्ववेद - ७.५.५

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः ... इसी प्रकार अथर्ववेद के अन्य मन्त्र यथा- ६/१४०/२, ८/६/१३, १०/१/२९ आदि को देखा जा सकता है। विस्तार भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

[२५] मेधृ- मेधा सङ्गमनयोर्हिंसायां च - धातु पाठ

[२६]https://facebook.com/arya.samaj/photos/a.४०२५८५१९३०९७६१९/११९८४३९७६३५१२१५४/? type=३

(डा० विवेक आर्य का अति विस्तृत शोध आलेख) इसी सन्दर्भ में नेट पर उपलब्ध अन्य

जब 'मेध' शब्द के अन्य भी अर्थ हैं तब उसको केवल हिंसा के अर्थ में ही लेना केवल दुराग्रह मात्र है।

इस प्रकार ''अजमेध'' में प्रयुक्त दोनों ही शब्दों की मीमांसा करने से यह ज्ञात होता है कि वैदिक यज्ञों में अज (छाग या बकरा) अथवा अन्य किसी भी पशु की हिंसा की बात नितान्त भ्रममूलक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आदि काल में तो वैदिक यज्ञों का स्वरूप शुद्ध-सात्त्विक ही होगा किन्तु काल-क्रम से लोगों में मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ने पर यज्ञों में भी इसका चलन आरम्भ किया गया। जिसके चलते वेद की कतिपय शाखाओं एवं श्रौत सूत्रों में इसका विधान पाया जाता है[२७] तथा यह भाग याज्ञिकों द्वारा बाद में जोड़ा गया।

महर्षि जैमिनि ने मीमांसा सूत्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में कहा है कि ''मन्त्र व चोदना के विरोध होने पर निश्चय से चोदना अनपेक्षित है। विरोध न होने पर चोदना के प्रामाण्य का अनुमान है।''[२८]

इसी सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी अत्यन्त बलपूर्वक कहा है कि जो ब्राह्मण या सूत्र वेद विरुद्ध हिंसापरक हों, उसका प्रमाण न करना।[२९] इसी सन्दर्भ में काशीमण्डलाध्याक्षों द्वारा विरचित श्लोक भी

आलेख भी देखे जा सकते हैं जहाँ सप्रमाण बताया गया है कि वैदिक यागों में पशु हिंसा आरम्भिक काल में नहीं थी।

(i) http://literature.awgp.org./akhandjyoti/१९९२/novmber/v २.१४

(ii)https://panchjany.com/२०१५/१०/२०/२१-१०७९/archive/ ro४८५८dea

[२७] श्रौतयज्ञ मीमांसा - युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट-पृ० २३६

[२८] महर्षि जैमिनि कृत मीमांसा सूत्र- १/३/३ ''विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्''

[२९] संस्कार विधि - वेदारम्भ संस्कार के अन्त में, रामलाल कपूर ट्रस्ट, विशिष्ट संस्करण,

द्रष्टव्य हैं।[30]

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन यज्ञों में 'अजमेध' का अर्थ बकरे या छाग की हिंसा करना कदापि नहीं था। काल क्रम से कुछ भ्रान्तियाँ अवश्य उत्पन्न हुईं किन्तु जैसा कि शोध पत्र के आरम्भ में ही मीमांसा दर्शन का प्रयोजन बताया गया है कि इस दर्शन का उद्देश्य ही वैदिक व्याख्याओं की तात्त्विक रूप से व्याख्या करना एवं उनमें उपजी भ्रान्तियों का निवारण था। यह कार्य प्रातःस्मरणीय मीमांसकों द्वारा उचित प्रकार से किया गया। अति हर्ष का विषय है कि आधुनिक समय में हमारे यज्ञ-हवन पूर्णतया पशु आदि की हिंसा से मुक्त हो चुके हैं। इस महती उपलब्धि में मीमांसा दर्शन की भूमिका असन्दिग्ध है।

संवत-२०३१ पृष्ठ - १३१

[30] श्रौतयज्ञ मीमांसा - युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट - पृ० - २३६-२३७

दर्शपौर्णमास याग विवेचन

डा. सोमवीर सिंघल[१]

यज्ञ शब्द 'यज्'[२] धातु से निष्पन्न होता है। "यज्" का अर्थ है- देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। इस प्रकार "यज्" धातु का अर्थ हुआ- देव की पूजा, देव के साथ सङ्गतिकरण तथा देव के लिए दान। यद्यपि इन तीनों अर्थों में ही विद्वान् यज् धातु के अर्थ का अन्वेषण करते हैं[३] तथापि यज्ञ की अवधारणा से ज्ञात होता है कि "यज्" धातु का प्राचीन अर्थ देव के साथ यजमान का सङ्गतिकरण ही है।[४] सङ्गतिकरण का तात्पर्य है यजमान का पिण्ड का ब्रह्माण्ड ऋचाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। इसी को दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य[५] का कथन है कि जो यज्ञ से, यजुषों से

---

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–११०००७**

[२] यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु (पाणिनि धातुपाठ, भ्वादिगण) सायण, मा.धवृ. १,७२४, श.अ. ३.३.९०, यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति के लिए द्र. भानुजि दीक्षित, सुधा टीका अमर सिंह, अ.को. २.७.१३, राधाकान्त स्यारदेव, श.क.दु., भाग ४, पृ. ६ वाचस्पत्यम्, भाग ६.पू. ४७७६, युधिष्ठिर मीमांसक, मी.शा. भा, प्रथम भाग, भूमिका पू. ८७ मो. वि डिक्शनरी पू. ८३८-८३९

[३]युधिष्ठिर मीमांसक, मी.शा.भा. प्रथम भाग, भूमिका पृ. ८७

[४]विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, अग्निचयन (सम्पूर्णानन्द सं० विवि से प्रकाशित) पृष्ठ २१७-२१८

[५]देवान्वाऽएव प्रीणाति यो यजतेऽएतेन यज्ञेनऽरिव त्वद्यजुभिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स

तथा आहुतियों से देवों को प्रसन्न करता है, वह प्रतिष्ठित होता है।

वैदिक संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है यज्ञ ऋषियों की साधना से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा का वह आलोक है, जिससे संस्कृति का अणु परमाणु प्रद्योतित है।[६] ऋग्वेद से यह सिद्ध होता है कि पौरुष देवों ने यजन कर सृष्टि की[७]। यज्ञ इस सृष्टि चक्र का मूल केन्द्र है।[८] इसी को दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य ने यह कहा है कि जो निरन्तर इस सृष्टि चक्र को गतिशील रखता है, वह यज्ञ है।[९] इस विश्व में जो भी क्रियायें की जाती हैं, उसके केन्द्र में मनुष्य स्थित है। याज्ञवल्क्य ने मनुष्य के तीन जन्मों को बताया है। वह पहले अपने माता पिता से जन्म लेता है, तदनन्तर वह यज्ञ से उत्पन्न होता है तथा अन्त में उसकी उत्पत्ति मृत्यु से होती है। इस ब्रह्माण्ड से एकात्मता स्थापित करने के लिए प्राचीन वैदिक ऋषियों ने जिस मार्ग का अन्वेषण किया था, वह यज्ञ था। ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ को सुतर्मा नौका बताया गया है। ऋषिगण यज्ञ में व्यष्टिचैतन्य को समष्टि चैतन्य में अन्तर्हित कर देते थे। इसीलिए एक मन्त्र में कहा गया है कि मैं अनृत के पास से हटकर सत्य के समीप पहुँच रहा हूँ।[१०]

जब यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, तभी ऋत का सन्धान होता है। ऋत के द्वारा ही मनुष्य उदात्ततम होता है। इसी को दृष्टि में रखकर

देवान् प्रीत्वा १.९.१.३ (शतपथ ब्राह्मण)

[६]ऋ.सं. १०.९०

[७]तदैव, १०.९०.१६- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तु. अ. सं. ७.५०१, वा.सं. ३१.१६, वै.स. ३.५.११.५, मै. सं ४.१०.३, का सं. १५.१२ आदि।

[८]ऋसं, १.१६४.३५- अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि, तु, अ.सं. ९.१०.१४, वा. सं. २३.६२

[९]श.ब्रा.३.९.४,२३- स यजायते तस्माद्यो य ह वै नामैतद्यज्ञ इति।

[१०]वा. सं. १/५, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।

ऋषि प्रजापति ने ऋग्वेद में कहा था कि अग्नि के अच्छी तरह से प्रज्ज्वलित हो जाने पर मैं केवल ऋत की ही बात करूंगा।[११] यज्ञ के सम्बन्ध में यह धारणा बलवती है कि हम देवता को यदि हवि देंगे तो वह विनिमय में हमको कुछ देगा। ऋषि प्रश्न करता है कि आत्मयाजी तथा देवयाजी में कौन श्रेष्ठ है? ऋषि इसका उत्तर भी प्रस्तुत करते हैं कि इन दोनों में आत्मयाजी ही श्रेष्ठ है। यजमान जब इस भावना से यज्ञ करता है कि यज्ञ में इस अनुष्ठान से मेरे इस अङ्ग की दैवीय संरचना हो रही है, तब वह आत्मयाग करता है न कि देवयाग। इस दृष्टि से पूर्व कथित यज्ञ से जन्म की बात सार्थक होती है। इस प्रकार यज्ञ अनृत से सत्य की ओर, असुरत्व से देवत्व की ओर, व्यष्टि चैतन्य से ब्रह्माण्ड चैतन्य की ओर ले जाने वाला एक श्रेष्ठतम कर्म है।[१२]

यज्ञों का विभाजन– मनुष्य अपनी स्वभाविक मनोवृत्ति की छवि से तीन प्रकार से कर्म में प्रवृत्त होता है, कुछ जिन्हें वह प्रतिदिन करना चाहता है। कुछ कर्मों में वह तब प्रवृत्त होता है जब कोई उसके निमित्त उपस्थित होता है। मनुष्य के मन में विविध कामनाएँ जगती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह अध्यवसाय की ओर मुख करता है।[१३] अतः कर्मों के वैविध्य के कारण यज्ञ का नित्य, नैमित्तिक और काम्य के रूप में विभाजन किया जा सकता है।[१४] नित्य यज्ञ प्रतिदिन किए जाते हैं। नित्य यज्ञ करने से किसी प्रकार का लाभ तो नहीं होता परन्तु न करने पर

---

[११]ऋ. सं. ३.५५.३ – समिद्धेऽग्नौ ऋतमिद् वदेम।

[१२]श.ब्रा. १.७१.५, यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, तै.बा. ३.२.१.४ वा. सं. १.१ महीधर भाष्य १.१

[१३]युधिष्ठर मीमांसक जै.मी. सा. भा. पृ० ९ तै. स. ५० ६ पूना संस्करण

[१४]वही, भवभूति उत्तररामचरित, प्र० अङ्क श्लोक संख्या ८

प्रत्यवाय की सम्भावना बनी रहती है[१५] इसके लिए "**यावज्जीवम् अग्निहोत्रम्**" इस प्रकार यज्ञ करने का विधान है।

जिस यज्ञ का विधान किसी निमित्त से किया जाता है, उसे नैमित्तिक यज्ञ कहते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार जिसका घर जल जाए, उसके लिए सामवत् अग्नि देवता को अष्टाकपाल पुरोडाश के करने का विधान है। इस प्रकार से यज्ञ गृहदाह निमित्त होने के काल नैमितिक यज्ञ कहा जा सकता है। विशेष कामना से जिन यज्ञों को किया जाता है, उन्हें काम्य यज्ञ कहा जाता है।"[१६]

यज्ञों के दो भेद हैं पाक तथा श्रौत यज्ञ - गृहस्थ धर्म के परिचालन के लिए जो यज्ञ किए जाते हैं उन्हें पाक यज्ञ कहा जाता है, जिसका विवरण गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में उपलब्ध होता है। श्रुतियों में उपलब्ध न होने के कारण इनका नाम पाक यज्ञ है। पाक यज्ञ को स्मार्त यज्ञ भी कहा जाता है।

श्रौत यज्ञ को करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि सर्वप्रथम, गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि की विधिपूर्वक स्थापना करे। आहिताग्नि यजमान ही श्रौत यज्ञ को कर सकता है। प्रत्येक यज्ञ के द्रव्य तथा देवता भिन्न-भिन्न होते हैं। देवताओं के लिए तत् तत् हवियों की प्रधानता हुआ करती है।

इस दृष्टि से श्रौतयज्ञों का विभाजन हविर्यज्ञ, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ के रूप में किया गया है, जिसको दूसरे रूप में इष्टि, पशु तथा सोम के रूप में जाना जाता है। इष्टियों में दूध, दही, घी, मधु अन्न आदि द्रव्यों का प्रयोग होता है। पशुयज्ञों में पशुओं के लिये हवि, सोम यज्ञ में सोमलता के

---

[१५]भट्टभाष्कर सायणभाष्य,पृ. ६

[१६] तै.स० भट्टभास्कर, सायण भाष्य पृ० ६

रस की हवि की प्रधानता हुआ करती है।

ऐतरेय ब्राह्मण में प्रमुखतया पाँच प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि यज्ञों के भेदों का उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उसमें दर्शपौर्णमास से लेकर अश्वमेध यज्ञ तक का विवरण उपलब्ध होता है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों की संख्या इक्कीस है,[१७] जो क्रमशः सातपाक, सात हवि, सात सोमयज्ञ हैं। अनुवर्ती आचार्यों ने भी इसका अनुसरण किया है। सकल श्रौत यज्ञों का तीन भागों में विभाजन किया गया है, जिन्हें क्रमशः प्रकृति यज्ञ, विकृति यज्ञ, प्रकृत्ति–विकृति यज्ञ नाम से जाना जाता है।

वेदविहित पद्धति से सम्पादित किये जाने वाले समस्त श्रौतयागों को पाँच भागों में वर्गीकृत किया गया है- १. अग्निहोत्रयाग, २. दर्श-पौर्णमासयाग, ३. चातुर्मास्ययाग, ४. पशुयाग ५. सोमयाग। यथा '**स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः।**' (ऐत.ब्रा.) किन्तु मन्वादिस्मृतिग्रन्थों तथा गौतमधर्मसूत्र प्रभृतिकल्पग्रन्थों में स्मार्त एवं श्रौतयागों की सङ्ख्या सम्मिलित रूप से २१ मानी गई है।

यथा- 'औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासि श्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति **सप्त पाकयज्ञसंस्थाः**, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रायणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति **सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः**, अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, अप्तोर्याम इति **सप्त सोमसंस्थाः**।'[१८]

इन यागों में वर्णित पाकयज्ञों को ही गृह्ययाग कहते हैं। गृह्यसूत्रों में निरूपित याग ही गृह्ययाग हैं। इन्हीं यागों को स्मार्तयाग भी कहा जाता

---

[१७]गो० ब्रा० १.१.१३. १५.२५, १.५.२३

[१८]गौतमधर्मसूत्र,८/१८

है। इन यागों का विधान मन्वादिस्मृतिग्रन्थों में वर्णित होने के कारण श्रौतसूत्रों में पृथक्तया इनका विवेचन नहीं किया गया है। इन स्मार्तयागों का अनुष्ठान गृहीतस्मार्ताग्नि व्यक्ति के द्वारा ही किया जाता है। इन यागों के लिए जिस अग्नि का प्रयोग किया जाता है, उस अग्नि को स्मार्ताग्नि या गृह्याग्नि कहते हैं । इसे ही आवसथ्य अग्नि भी कहते हैं। इस अग्नि का आधान मुख्यरूप से विवाह के अवसर पर अथवा पैतृक सम्पत्ति के विभाग के समय में होता है। यथा- '**आवसथ्याधानं दारकाले', 'दायाद्यकाल एकेषाम्' ।**[१९]

इसी अग्नि में पाकयज्ञों के साथ समस्त शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों तथा संस्कारों का अनुष्ठान भी किया जाता है। पाकयज्ञों की सङ्ख्या ७ है।[२०]

श्रौतसूत्रों में वर्णित यागों को **श्रौतयाग** कहा जाता है। इन यागों का अनुष्ठान श्रौत अग्नि में सपत्नीक ग्रहीतश्रौताग्नि यजमान के द्वारा ही होता है। श्रौताग्नि मुख्यतया तीन प्रकार की है- **१. गार्हपत्याग्नि २ आहवनीयाग्नि तथा ३. दक्षिणाग्नि।** इनमें गार्हपत्याग्नि का प्रयोग हवनीय पदार्थों के पाक के लिए होता है। इसकी वेदी मण्डलाकार (Circle) होती है।

आहवनीयाग्नि में देवताओं के निमित्त होम किया जाता है। इसकी वेदी चतुर्भुज (Square) होती है। दक्षिणाग्नि को मुख्यरूप से पितृयज्ञ प्रभृति विशिष्ट कर्मों के निमित्त ही प्रयुक्त किया जाता है। इसकी वेदी अर्धवृत्ताकार (Semi-Circle) होती है। इन सभी वेदियों का क्षेत्रफल

---

[१९]पास्करगृह्यसूत्र १/२/१-२

[२०]विशेषविवेचनार्थ द्रष्टव्य, श्रौतयज्ञ परिचय, पं. वेणीराम शर्मा गौड़, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९९

समान होता है। एक वेदी का क्षेत्रफल १ वर्ग व्यास (अर्थात् ४ हाथ या ६ वर्ग फीट) होना चाहिये।[२१]

इन तीन प्रकार की अग्नियों के अतिरिक्त एक और श्रौताग्नि है, जिसे सभ्याग्नि कहते हैं। इसका प्रयोग विशेष यज्ञों के लिए होता है।

श्रौतयागों का वर्गीकरण– श्रौतयागों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है— १. हविर्याग एवं २. सोमयाग।

हविर्याग— इन यागों में देवताओं के निमित्त दुग्ध, दधि, ओदन, घृत, पुरोडाश प्रभृति हवनीयद्रव्यों की आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। हविर्यागों की सङ्ख्या सात है।

दर्शपौर्णमास याग तथा उसका दार्शनिक महत्त्व– दर्श तथा पौर्णमास शब्दों का समस्त नाम है "दर्शपौर्णमास"। यह समस्त पद द्वन्द्व समास होने से निष्पन्न होता है।[२२] इस द्वन्द समास से ज्ञात हो जाता है कि यज्ञ में दो इन्द्रियों का प्रयोग किया जाता है। दर्श "अमावस्या नामक तिथि को कहा जाता है तथा पौर्णमासी भी तिथि विशेष है। पूर्णमास में "मास" शब्द का अर्थ समय और चन्द्र दोनों है, अर्थात् चन्द्र जिस दिन पूर्ण होता है। उसे पूर्णमास कहते हैं।

दर्श[२३]- पूर्णमास[२४] याग– ये अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिवस

---

[२१]वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. ३११ विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००८

[२२]आप० श्रौ० धूर्तस्वामी भाष्य पृ० ९ दर्शश्च पूर्णमास्येति दर्शपूर्णमासी। तै०स० भाष्य भूमिका, पृ. ८

[२३]अमावास्या त्वमावस्या दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः अमरकोशः,१.४.८

[२४]एकत्र स्थितचन्द्रार्कदर्शनात् दर्श इति उच्यते। 'दर्श इति सूर्याचन्द्रमसोः परः सन्निकर्षः अभिधीयते। अमाशब्दः सहार्थे। यस्मिन् काले सूर्याचन्द्रमसोः सहवासः स कालः अमावस्या। मास इति चन्द्रमसः आख्या। पूर्णो मासो यस्मिन् काले स पूर्णमासः।

किये जाने वाले विशिष्ट याग हैं। इन यागों का सम्पादन सपत्नीक सोमयाजी यजमान ही कर सकता है तथा इस याग में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवं अग्नीध्र ये ४ ऋत्विज् होते हैं। दर्शपूर्णमासयाग में कुल मिलाकर ६ याग होते हैं, जिनमें अमावस्या के दिन अग्नि के निमित्त पुरोडाशयाग, इन्द्र के निमित्त दधियाग तथा दुग्धयाग - ये तीन याग किये जाते हैं। इसी प्रकार पूर्णिमा के दिन अग्नि के निमित्त अष्टकपाल पुरोडाशयाग, अग्नीषोम के निमित्त घृत का उपांशुयाग तथा एकादशकपाल पुरोडाशयाग- ये तीन याग किये जाते हैं।

यद्यपि अमावस्या एवं पूर्णिमा ही इन यागों का निर्धारित काल है तथापि परम्परागत रीति से अमावस्या एवं पूर्णिमा को केवल अग्न्यधान एवं याग से सम्बन्धित नियमों का ही अनुष्ठान किया जाता है, याग तो प्रतिपदा के दिन ही होता है। अत: ये याग दो दिनों में अनुष्ठित होते हैं। पूर्वोक्त इन ६ यागों को पूर्ण करने पर ही दर्श- पूर्णमासयाग नामक एक कर्म पूर्ण होता है तथा उसी से सन्तति प्रभृति सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति होती है। अत: इन यागों के लिये 'दर्श- पूर्णमासौ' इस प्रकार के द्विवचन का ही सदैव व्यवहार होता है। ये दर्श-पूर्णमास याग यथाशक्ति आजन्म अनुष्ठेय हैं, किन्तु इनके अनुष्ठानकाल की अवधि के सन्दर्भ में भी विकल्पों की व्यवस्था है। ये याग वैसे तो दर्श-पूर्णमास इस नाम से जाने जाते हैं, किन्तु यागों का प्रारम्भ अग्न्याधान के उपरान्त सर्वप्रथम पूर्णिमा से ही होता है, दर्श से नहीं। इन यागों को सभी इष्टियों का प्रकृतिरूप होने का श्रेय प्राप्त है, क्योंकि इन यागों में इष्टियों के समग्र अङ्गों का उपदेश किया गया है। अतः समस्त हविर्यागों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, स्वयम् आचार्य आपस्तम्ब का कथन है- **'दर्श- पूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः'**[२५] ये याग ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों से साध्य हैं। इन यागों का

[२५]आपस्तम्बश्रौतसूत्र - २४ / ३ / ३२

निरूपण शुक्लयजुर्वेद के अध्याय १ एवं २ में किया गया है।

दर्श और पौर्णमास क्या हैं? इस विषय में स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी **वैदिक आलोक** नामक अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि दर्शपौर्णमास बालकों को तथा माता-पिताओं को कुल की मर्यादा की रक्षा के सङ्कल्प पत्र को दोहराने का एक साधन है। फिर आगे वह लिखते हैं कि प्रश्न होता है कि इन दोनों में भेद क्या है? इसका उत्तर यह है कि पौर्णमास का केंद्र घर के बालक हैं और दर्श का केंद्र घर के वृद्धजन। पौर्णमास चन्द्र का उदय पक्ष है और दर्श क्षीणयान पक्ष है। पौर्णमास यज्ञ में बालकों को नाम ले लेकर आदेश किया जाता है कि पिता ने उन्हें किसी विशेष मर्यादा के प्रवाह को अविछिन्न रखने के लिए उत्पन्न किया है, यदि पिता उस इसी कार्य को अधूरा भी छोड़ जाए तो पुत्रों का कर्तव्य है कि वे उसे पूरा करें। दर्शेष्टि के दिन कुल मर्यादा को पूर्ण करने का उपदेश उन्हें एक और प्रकार से दिया जाता है। उस दिन घर के वृद्धजनों की पूजा करके उन्हें कहा जाता है कि देखो! कुल की मर्यादा ऐसे पूरी की जाती है जैसे इन वृद्धजनों ने पूरी की और जिसके कारण यह आज इतने आदर के भाजन हो रहे हैं।[२६]

मैत्रायणी संहिता के अनुसार दर्श पूर्णमास याग करने वाला व्यक्ति देवयाजी कहलाता है। दर्शपौर्णमास याग को दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता है। जिसको क्रमशः नित्य और काम्य कहा जाता है। दर्श पूर्णमास यज्ञ को करने वाले व्यक्ति की समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं और स्वर्गकामी के लिए स्वर्ग तथा ऋद्धि कामी यजमान के लिए ऋद्धि की प्राप्ति होती है।[२७] महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार जो व्यक्ति दर्शपौर्णमास

---

[२६]स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती, वैदिक आलोक. पृ.

[२७]आप० श्रौ० ३.१४.८

इष्टि प्रत्येक मास में करता है, वह वस्तुतः दो अश्वमेध यज्ञ का यजन करता है।[२८] अश्वमेध में जिस अश्व का संज्ञपन होता है, वह अश्व प्रजापति का रूप है।[२९]

सम्प्रति मनुष्य जीवन बहुत जटिल हो गया है, विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के बीच स्थित रहकर भी मनुष्य बहुत पीड़ित है, अतएव यह सोचा जा सकता है कि प्राक् ऐतिहासिक, प्राग् साहित्य अथवा प्राग् आधुनिक मनुष्य जीवन की किन समस्याओं में जूझता रहा होगा, इसकी केवल कल्पना ही की सकती है। प्रत्येक प्रज्ञावान् व्यक्ति समस्याओं के निराकरण का समाधान ढूंढता है। जैसे आज विविध समस्याओं का समाधान ढूंढ़ा जा रहा है, उसी प्रकार पहले भी मनुष्य समस्याओं का समाधान ढूंढ़ता था। वैदिक ऋषियों ने उस ऋत तथा सत्य का अनुसन्धान किया था जिसके कारण असत् सत्ता में जाता है, मर्त्य अमृत बनता है तथा अंधकार घटकर सामने प्रकाश की राशि लहरा देता है। इस यज्ञ के द्वारा ऋषि व्यष्टि को समष्टि में तथा समष्टि को व्यष्टि में अनुभूत कर देता है। इसलिए भारतीय दर्शन में कहा गया है कि "**यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे**" इसे यदि प्रतीक रूप में कहा जाए तो कहना होगा **यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे**।

याज्ञवलक्य के अनुसार दर्श पौर्णमास इष्टि के द्वारा तीस वर्ष तक यजन अवश्य करना चाहिए। तीस वर्षों में सात सौ अमावस्याएँ तथा पौर्णमासी हुआ करती हैं, पहले के पन्द्रह वर्ष में जो तीन सौ साठ पूर्णिमाएँ या अमावस्यायें हुआ करती हैं, उन तीन सौ साठ दिन पर

---

[२८]ऋ०सं० ३.५.३,१४

[२९]क०उ० ३०- उर्ध्वमूलोऽअवाक्शाखा एवोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्र तद्ब्रह्य तद्वेवामृतमुच्यते। तस्मिलोकाभिताः सर्वे तदु नात्येक्ति कश्चन्।

यजमान विजय प्राप्त कर लेता है। बाद में पन्द्रह की जो तीन सौ साठ अमावस्याएँ एवं पूर्णमासियाँ है, उनसे संवत्सर में होने वाले तीन सौ साठ दिन पर अपना वर्चस्व स्थापित करता है।"[३०]

मीमांसा दर्शन में वाक्य के संदर्भ में आता है कि अङ्ग और अङ्गी के वाचक पदों का एक साथ उच्चारण किया जाना ही 'समभिव्याहार' है[३१] और इसी को यहाँ ग्रन्थकार द्वारा वाक्य प्रमाण' की कोटि में रखा गया है। इसी कथ्य को हम उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं - **'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'।** यह एक विधि वाक्य है। इसका अर्थ है कि- 'जिस व्यक्ति की 'जुहू' पलाश[३२] की लकड़ी द्वारा निर्मित होती है, वह अपयश को नहीं सुनता है। 'नियमानुसार घृत का पात्र पलाश का ही बना होना चाहिए।[३३]

यहाँ पर्णता अर्थात् पलाश की काष्ठ (लकड़ी) से निर्मित होना तथा 'जुहू', इन दोनों में 'पर्णता', 'जुहू' के अङ्ग रूप में तथा 'जुहू' अङ्गी रूप में प्रयुक्त हुई है, क्योंकि 'पर्णमयी' और 'जुहू' इन दोनों का बिना किसी व्यवधान के एक साथ उच्चारण हुआ है। अत: इसे 'वाक्य प्रमाण' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ प्रयुक्त 'जुहू' और 'पर्णमयी' ये दोनों ही पद व्याख्या की अपेक्षा करते हैं। 'जुहू' वस्तुतः घी रखने का एक पात्र विशेष होता है। (हूयते अनया इति जुहूः) जिसके निर्माण में 'पलाश' की काष्ठ अर्थात् लकड़ी का प्रयोग किया जाना अनिवार्य है, क्योंकि यदि इसे किसी अन्य

---

[३०]श.ब्रा. ११.१२.१०.११.

[३१]समभिव्याहारो वाक्यम्, अर्थसङ्ग्रह

[३२]पलाश: किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः।

[३३]वेकङ्कती ध्रुवा प्रोक्ता आश्वत्त्थी चोपभृन्मता। जुहूः पलाशकाष्ठस्य खदिरस्य स्रुवो मतः॥

वृक्ष की लकड़ी से बनाया जाता है तो ऐसा करने पर 'जुहू' से होने वाले 'अपूर्व' की उत्पत्ति नहीं होगी। उस स्थिति में 'जुहू' का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत 'पलाश' की काष्ठ से निर्मित होने पर यज्ञ करने वाले व्यक्ति को अपने अपयश (कुख्याति) को सुनना नहीं पड़ेगा

मीमांसा दर्शन में प्रकृति-विकृति याग के सन्दर्भ में अनेक बार दर्श पौर्णमास का विवेचन किया गया है। दर्शपौर्णमास याग' प्रकृति याग के अन्तर्गत आते हैं। दर्शपौर्णमास प्रधान याग हैं। प्रयाज पाँच क्रियाओं का समूह है। वे क्रियाएं इस प्रकार हैं- **समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्जयति, स्वाहाकारं यजति।**

प्रकृति याग उसे कहते हैं, जिसमें अङ्गों के साथ सम्पूर्ण सम्पादन विधि का वर्णन किया गया हो। अपने अनुष्ठान हेतु इन्हें किसी अन्य स्थल से किसी भी विधान को ग्रहण करना नहीं पड़ता है। अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, दर्श-पौर्णमास नामक याग इसी श्रेणी में आते हैं।

विकृति याग जिनमें किया गया विवेचन स्वयं में पूर्ण न हो, विकृति याग कहलाते हैं, क्योंकि इनके अनुष्ठान में अपेक्षित सभी अङ्गों का निर्देश प्राप्त नहीं होता है। इसलिए अनुष्ठान की पूर्णता हेतु इन्हें अन्य प्रकृति यागों पर निर्भर रहना पड़ता है। सौर्य, वायव्य, उद्भिद्, पौण्डरिक नामक याग इसी श्रेणी में आते हैं। उल्लेख्य है कि जिन अङ्गों को ये अपनी प्रकृति से प्राप्त करते हैं, उन्हें 'चोदक प्राप्त' अथवा 'अतिदेश प्राप्त' संज्ञा दी जाती है।

जैसे- **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इत्यादि को 'चोदक' अथवा ' अतिदेश' वाक्य कहा जाएगा। 'सौर्य' नाम याग 'विकृति याग' की श्रेणी में आता है, क्योंकि इसमें अनुष्ठान के अनेक अपेक्षित अङ्गों का उल्लेख न होने से इनकी प्राप्ति अन्य प्रकृति याग से होती है -

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः। यथा-दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः। यथासौर्यादिः। तत्र कतिपयाङ्गानां नाम अतिदेशेन प्राप्तत्वात्। अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः। तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अतएव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद् दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।[३४]

अर्थात्– जहाँ सभी अङ्गों का कथन होता है, वह प्रकृति याग है। जैसे- दर्शपूर्णमास आदि। वस्तुतः उनके प्रकरण में सभी अङ्गों का पाठ किया जाता है, किन्तु जहाँ सभी अङ्गों का उपदेश नहीं किया जाता है, वह विकृति याग होता है। जैसे- सौर्य याग, क्योंकि उनमें कुछ प्राप्ति अतिदेश वाक्यों से भी होती है। यहाँ अनारभ्य विधि ही वस्तुत सामान्य विधि है।

अतिदेश वाक्य- इसी को 'चोदक वाक्य' भी कहते हैं, क्योंकि चोदक का अर्थ है- प्रेरणा देने वाला। अतिदेश वाक्य भी व्यक्ति को प्रेरणा प्रदान करता है। जैसे - **'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या'** अर्थात् प्रकृति याग के समान ही विकृति याग का भी अनुष्ठान करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यही है कि ये विधि वाक्य प्रकृति यागों में उक्त होते हैं तथा उन्हीं से सम्बद्ध विकृति यागों में भी उनकी प्राप्ति होती है। शाबर भाष्य में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है -

प्राकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु।
धर्मप्रदेशो येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्थितिः॥[३५]

अनारम्भ विधि - विधि दो प्रकार की होती है - सामान्य विधि एवं

---

[३४] अर्थसंग्रह

[३५] जैमिनिसूत्र ७.१.१२ (शाबरभाष्य)

विशेष विधि। इनमें विशेष विधि को 'आरम्भ विधि' भी कहते हैं, क्योंकि शास्त्र में 'याग-विशेष' की प्रक्रिया के विवेचन को आरम्भ करके, उसी याग के प्रसङ्ग में इस विधि को प्रवृत्त किया जाता है। इसके ठीक विपरीत किसी याग विशेष का आरम्भ करके जो विधि उसके प्रसङ्ग में न पढ़ी जाए, अपितु सभी यज्ञों में समानरूप से प्रवृत्त हो, वह सामान्य विधि' कहलाती है। इसी को 'अनारम्भ विधि' भी कहते हैं। जैसे **'यस्य पर्णमयी'** इत्यादि विधि का पाठ किसी याग विशेष के प्रसङ्ग में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः इसे 'अनारम्भ विधि' अथवा सामान्य विधि' कहा जाएगा।

चोदक- 'चोदक' का अभिप्राय 'प्रेरक' अथवा 'विधायक से है क्योंकि इस वाक्य को सुनने के बाद व्यक्ति को यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि अमुक याग के समान ही अमुक याग का अनुष्ठान करना चाहिए। इसीलिए इसे 'चोदक' कहा गया है। इसकी निष्पत्ति 'चुद प्रेरणे' धातु से हुई है। जैसे – **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** इत्यादि वाक्य को 'चोदक' वाक्य कहेंगे, क्योंकि यहाँ विकृति को प्रकृति के समान अनुष्ठित करने की प्रेरणा प्रदान की गई है। अतः यह वाक्य भी विधि के अन्तर्गत ही परिगणित होता है। इसी को अतिदेश' वाक्य भी कहते हैं।

आरम्भ विधि एवं अनारम्भ विधि - जहाँ याग विशेष का आरम्भ करके उसी से सम्बद्ध विधियों का स्वतन्त्ररूप से निरूपण किया जाता है, उसे आरम्भ विधि' कहा जाता है। इसी को विशेष विधि संज्ञा भी प्रदान की गई है। इसके ठीक विपरीत जब याग विशेष का आरम्भ किए बिना ही विधान किए जाते हैं, तो उन्हें अनारम्भ विधि' कहते हैं। वस्तुत: इन दोनों ही विधियों का सम्बन्ध 'सामान्य याग' से होता है, 'विशेष याग' से नहीं। इसीलिए इसे सामान्य विधि' भी कहा गया है ।

'इन्द्राय इदं हविः' इत्यादि मन्त्र 'दर्शमास' एवं ' पूर्णमास दोनों

यज्ञों का अङ्ग होने लगता है, तब इस स्थिति में वाक्य प्रमाण की बलवत्ता को स्वीकार करके तदनुसार ही अनुष्ठान किया जाएगा। वस्तुतः इस मन्त्र का प्रयोग तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/५/१०) में इस प्रकार हुआ है –

'अग्नीसोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्।

इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्।[३६]

अर्थात् हे अग्नि, हे सोम, तुमने इस हवि का सेवन किया है। उसकी वृद्धि की है और उसे अत्यधिक श्रेष्ठ बताया है, उसका सेवन किया है, उसकी वद्धि की है ।

यह प्रसंग वस्तुत: 'दर्शपूर्णमास' से सम्बद्ध अध्याय में आया है। मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार प्रथम प्रयुक्त वाक्य का विनियोग पौर्णमास याग में किया जाना चाहिए, जबकि 'इन्दाग्नी' इत्यादि वाक्य का 'दर्श याग' में किया जाना उचित है। इसका कारण अग्नि और सोम ये दोनों पौर्णमास के देवता हैं तथा इन्द्र और अग्नि ये दोनों दर्शमास के देवता हैं तथा देवता के नाम वाले मन्त्रों का प्रयोग उन्हीं सम्बद्ध यागों में ही किया जाना तर्कसंगत है।

मीमांसा दर्शन 'दर्श' याग के देवता इन्द्र और अग्नि को तथा 'पूर्णमास' के देवता सोम और अग्नि को मानता है। इसलिए 'पौणमास' यज्ञ में अग्नि और सोम इन दो ही देवताओं का आह्वान किया जाएगा तथा 'दर्श याग' के आयोजन में केवल 'इन्द्राग्नी' को ही आमन्त्रित किया जाएगा। यहाँ 'अग्नीषोमौस' पद परित्याग करेंगे और यह सब प्रकरण द्वारा ही निर्धारित होगा।

---

[३६]तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/५/१०)

वैदिक-याग एवं मीमांसा-दर्शन

डा. जगमोहन[1]

वैदिक-याग एवं मीमांसा-दर्शन इस विषय पर आयोजित वैदिक सङ्गोष्ठी के शीर्षक पर ही मेरे शोधपत्र का विषय आधारित है, या यूँ कहें कि वैदिक सङ्गोष्ठी का शीर्षक ही मेरा विषय है। जब यह विषय उपस्थित हुआ तो मेरे समक्ष तीन प्रश्न उपस्थित हुए-

१. वैदिक यागों की आवश्यकता क्यों हुई या वैदिक यागों का प्रादुर्भाव क्यों हुआ?

२. वैदिक यागों के लिए मीमांसा दर्शन की आवश्यकता क्यों हुई?

३. वैदिक यागों का सम्बंध केवल पूर्व-मीमांसा के साथ है या उत्तर-मीमांसा से भी कोई सम्बन्ध है?

इसी दृष्टि से वैदिक विद्वानों के ग्रंथों का स्वाध्याय किया। स्वाध्याय करने के पश्चात् जो दृष्टि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रासङ्गिक एवं व्यावहारिक स्तर पर समाज एवं राष्ट्र के लिए परम कल्याण की भावना से ओतप्रोत लगी, उसी का वर्णन आपके समक्ष इस शोधपत्र के माध्यम से किया जा रहा है। शोधपत्र में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि

[1] **संस्कृत विभाग, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

किस प्रकार से मीमांसकों की दृष्टि, वैदिक दृष्टि से तथाकथित वेदवादी दृष्टि के रूप में परिवर्तित हो गयी, जिसने वैदिक यागों के मूल उद्देश्यों को तिरोहित कर वैदिक यागों को अव्यावहारिक एवं अतार्किक सिद्ध कर दिया।

वैदिक यागों पर विचार करने से पहले लौकिक दृष्टि से विचार किया जाए तो विषय को समझने में सरलता होगी। साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ सभी काव्य-ग्रंथों के प्रयोजनों को बताते हुए कहते हैं कि सभी काव्यों का एक ही प्रयोजन है अर्थात् राम आदि धर्म-रक्षकों की भांति धर्म कार्यों में प्रवृत्त होना और अधर्मी रावण आदि की भांति अधर्म कार्य का आचरण जीवन में कदापि न करना।[२]

अब यदि कोई व्यक्ति ग्रंथ में वर्णित आचरण को त्याग कर केवल काव्य ग्रंथ के श्लोक, छंद, अलङ्कार आदि के पाठ-मात्र से ही अपने को रामादिवत् समझने लगे तो क्या यह संभव है? इसका एक ही उत्तर होगा ऐसा कदापि संभव नहीं है।

ठीक इसी प्रकार सर्वप्रथम मनुष्य के पास वेदों का ही ज्ञान था। वेदों ने मनुष्य को परमात्मा के प्रति समर्पित होकर निष्काम कर्म करना सिखाया तथा लोक कल्याण के लिए बड़े से बड़े त्याग का उपदेश दिया। क्योंकि इन दोनों के बिना न तो परिवार का, न समाज का, न विश्व का कल्याण हो सकता है। किंतु केवल उपदेश मात्र से इस संदेश को घर-घर तक नहीं पहुंचाया जा सकता था। अतः वेदवेत्ता कल्पसूत्रकारों ने निष्काम कर्म एवं लोक-कल्याण हेतु त्याग कर्म करना लोग घर-घर में सीख जावें इसलिए परिवार, समाज एवं राष्ट्रीय स्तर पर किए जाने वाले

[२] साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, कारिका-२

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, राजसूय एवं अश्वमेधादि यज्ञों की कल्पना की[३]।

वेद का उपदेश सिखलाने के लिए यागों की कल्पना की गई थी। वेदों के उपदेश को हम अपने जीवन का अङ्ग बना सकें, तदनुकूल आचरण कर सकें, इसलिए यागों की कल्पना की गई थी। **वेदों का उपदेश प्रचारित एवं प्रसारित करने के लिए यागों की कल्पना की गई थी, न कि यज्ञ के लिए वेदों की प्रवृत्ति हुई थी**। किन्तु बाद में याज्ञिकों ने "यज्ञ के लिए ही वेदों की प्रवृत्ति हुई"[४] इस तथ्य को ही अधिक जोर-शोर से प्रचारित किया। जिसके फलस्वरूप कालांतर में आलस्य, प्रमाद और लोभ के वशीभूत लोगों ने इस यज्ञ-विद्या को जादू-टोने की विद्या बना डाला।

वैदिक लोगों ने यज्ञ बनाए तो इसलिए थे कि मनुष्य-मात्र घर-घर में त्यागमय जीवन का उपदेश प्राप्त करके, उस पर आचरण करके, मनुष्य-मात्र का कल्याण करने में समर्थ हो सकें। किंतु लोगों ने उल्टी गङ्गा बहाते हुए यज्ञ की क्रियाओं को ही मुख्य समझ लिया और वेद के उपदेशों पर आचरण करना तो दूर उन्हें समझने के लिए प्रयास भी उचित नहीं समझा। **वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः**[५]**, अनर्थकाः हि मन्त्राः**[६] जैसी उक्तियां प्रचलित कर दीं। उन लोगों ने तो यह समझ लिया कि मन्त्रों का स्वर सहित उच्चारण करने मात्र से तथा यज्ञ क्रियाओं के अनुष्ठान मात्र से कल्याण हो जाएगा। इसी भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् वादरायण व्यास ने वेदान्त दर्शन अर्थात् उत्तर-मीमांसा की

---

[३]श्रीमद्भगवद्गीता, समर्पणभाष्य,२.३९

[४]वेदाः हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः, याजुष ज्योतिष, श्लोक-३

[५]महाभाष्य पस्पशाह्निक

[६]निरुक्त, अध्याय-१, पाद-५

रचना की तथा उनके मुख्य शिष्य भगवान् जैमिनि ने धर्मस्वरूप निदर्शक पूर्व-मीमांसा शास्त्र की रचना की। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, इसलिए एक का नाम पूर्व-मीमांसा है और एक का नाम उत्तर-मीमांसा।

पूर्व-मीमांसा धर्म का स्वरूप बताती है और उत्तर-मीमांसा उस धर्म के ध्येय भगवान् का स्वरूप बताती है- एक में वेद है, एक में वेदान्त। जब ध्येय को सम्मुख रखकर कोई कार्य किया जाता है तो उस कार्य की पद्धति में एक अनुशासन, सामूहिकता एवं समरसता का भाव होता है, क्योंकि प्रत्येक कर्म या क्रिया का मूल्याङ्कन ध्येय की दृष्टि में ही किया जाता है। जब तक पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा में यह साध्य-साधन का भाव बना रहा, तब तक वैदिक याग अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल रहे। किंतु कालांतर में पूर्व-मीमांसा पद्धति उत्तर-मीमांसा से संबंध छोड़ बैठी।

मध्यकालीन मीमांसाकों ने पूर्व-मीमांसा को उत्तर-मीमांसा से सर्वथा अलग कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि जैमिनि ऋषि की यह पद्धति एक जादू टोने मात्र की भ्रष्टाचार भरी प्रक्रिया बन गई। इस बात को समझने के लिए स्वामी समर्पणानन्द जी द्वारा प्रदत्त एक दृष्टान्त ही पर्याप्त होगा- कल्पसूत्र-कारों ने लिखा की **अवकीर्णिनो गर्दभेज्या** अर्थात् जिसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हो जाए, वह गर्दभेष्टि अर्थात् गधायज्ञ करे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गधा अति साधारण भोजन करता है, किंतु अधिक परिश्रम करता है, उसी प्रकार अवकीर्णी (ब्रह्मचर्यभ्रष्ट) भी भोजन की मात्रा कम करता जाए तथा स्वाध्याय की मात्रा बढ़ाता जाए तो एक समय आएगा जब निरन्तर अभ्यास से वह ब्रह्मचर्यविरोधी भाव पर शासन करने में समर्थ हो जाएगा। परन्तु मध्यकालीन मीमांसकों ने यह प्रचार किया कि विधिपूर्वक कुछ मन्त्र पढ़कर चौराहे में गधे को

काटकर हवन करने से नष्ट ब्रह्मचर्य का प्रायश्चित हो जाता है। यह बात तो सर्वथा और व्यावहारिक एवं अतार्किक सिद्ध होती है[७]। इन मीमांसकों का परब्रह्म की आराधना, लोक कल्याण तथा निष्काम कर्म से कुछ संबंध नहीं रहा। ये तो लोगों को यह बताते फिरते थे कि इन मन्त्रों को इस प्रकार पढ़ने से ग्राम मिल जाता है, इन मन्त्रों से राज्य मिल जाता है, इन मन्त्रों से स्वर्ग मिल जाता है। इन यज्ञों का जो फल लिखा है, वह सब यथार्थ है। किंतु वह फल मन्त्रों के ठीक अर्थ जानकर उसके अनुसार आचरण करने से होता है, न कि मन्त्र उच्चारण मात्र से। और मन्त्रों का ठीक अर्थ भी तब समझ में आता है जब मन्त्रों के अनुसार विनियोग की व्याख्या हो। विनियोग के पीछे मन्त्रों के अर्थों को चलाने वाले स्वार्थी मीमांसकों को गीता में वेदवादी कहा गया है। यथा-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥[८]

स्वयं को वेद के प्रामाणिक विद्वान् समझने वाले (वेदवादी) वेद के मन्त्रों के जिन स्थूल अर्थों को प्रस्तुत करते हैं, वे उन अर्थों को इस प्रकार बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करते है, जैसे उन वेद मन्त्रों का दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता हैं। अपितु उन्होंने जो अर्थ समझा है, वही उपयुक्त है। वे उस अर्थ को बहुत ही सुन्दर एवं सरस वाणी के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। वेद के प्रति श्रद्धायुक्त होने से सामान्य जन भी उनकी चिकनी चुपड़ी बातों में आकर उनका अनुसरण करने लगते हैं। वस्तुतः वे वेद के गंभीर रहस्य को नहीं समझते हैं, अतएव वे गर्दभेष्टि के अतार्किक एवं अव्यावहारिक अर्थों को ही सच्चा वेदार्थ समझकर उसी में संलग्न रहते हैं।

---

[७]श्रीमद्भगवद्गीता, समर्पणभाष्य, २.३९

[८]श्रीमद्भगवद्गीता, २.४२

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेदों के उपदेशों को जन जन तक पहुंचाने के लिए यागों की कल्पना की गई थी। यागों के साध्य एवं साधन की स्पष्टता एवं उनको एकात्म स्वरूप प्रदान करने के लिए पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा का प्रादुर्भाव हुआ। मध्यकालीन मीमांसकों ने पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा के एकात्म सम्बन्ध की पद्धति को विच्छिन्न कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप वैदिक पद्धति फिर से वेदवादी पद्धति बन गई।

वैश्वीकरण एवं विश्वबन्धुत्व : वेदों के आलोक में

डा. सन्दीप कुमार[१]

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदों में समस्त संसार के सभी ज्ञान विज्ञान के सूत्र मूल रूप से विद्यमान हैं। आधुनिक युग में जिन भी सिद्धान्तों के प्रणयन का दावा विद्वान् लोग करते हैं, वे सभी सिद्धान्त मूल या उन्नत रूप में वेदों में दृष्टिगोचर होते हैं।

वैश्वीकरण–

अद्यतनीय विश्व में 'वैश्वीकरण' शब्द का बहुत प्रचलन है, जो अंग्रेजी के शब्द 'GLOBALIZATION' का हिंदी रूपांतरण है। विकीपीडिया नामक विश्वकोष में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है। **Globalization is the process of interaction and integration among people, companies, and governments worldwide. Globalization has accelerated since the १८th century due to advances in transportation and communication technology. This increase in global interactions has caused a growth in international trade and the exchange of**

[१] सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, एन. ए. एस. महाविद्यालय, मेरठ

ideas, beliefs and culture.[2]

इस परिभाषा के आधार पर वैश्वीकरण से आशय सम्पूर्ण संसार को एक बाज़ार समझना है । जिसके कारण विश्व के सभी देश एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक देश के आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है। सन् २००० में वैश्विक मुद्रा कोष वैश्वीकरण के चार मूल आधार चिह्नित किये थे- **१. Trade and Transactions, २. Capital and investment movements,**

३. Migration and movement of people, and ४. The dissemination of knowledge.[3]

व्यापार और वैश्वीकरण की प्रक्रिया व्यापार और कार्य संस्थाओं, अर्थव्यवस्था और समाज संस्कृति तथा प्राकृतिक वातावरण को प्रभावित करती है तथा उनसे प्रभावित होती है। शैक्षणिक वैश्वीकरण मुख्य रूप से तीन भागों में बँटा हुआ है- आर्थिक वैश्वीकरण, सांस्कृतिक वैश्वीकरण तथा राजनीतिक वैश्वीकरण।

वैश्वीकरण शब्द के इस विश्लेषण से यह सार निकलता है कि यह 'वैश्वीकरण' शब्द मुख्य रूप से विकसित देशों का विश्व पर अपनी सत्ता को बौद्धिक रूप से स्थापित करने के लिए गढ़ा गया है। चूंकि विकसित या साम्राज्यवादी देश अपने नाम पर आधुनिक आविष्कार या तकनीक पेटेंट करा चुके हैं। अब वैश्वीकरण के तहत उन आविष्कारों या तकनीक को अन्य अविकसित या विकासशील देशों को बेचकर धन उपार्जन करते हैं। अमीर देश, गरीब देशों को धन से सहायता करते हैं और उसके बदले उस देश के संसाधनों पर अवैध रूप से अधिकार कर लेते हैं। सांस्कृतिक

---

[2]https://en.wikipedia.org/wiki/Globalization

[3]https://en.wikipedia.org/wiki/Globalization

वैश्वीकरण का अध्ययन किया जाए तो यह देखने को मिलता है कि विजेता या अमीर देशों के द्वारा अपनाई गई संस्कृति को दूसरे देश के लोग अपनाते हैं जिससे धार्मिक रूप से वे बढ़ते है तथा उनके द्वारा अपनाई गई वेष-भूषा, खान-पान आदि का अनुकरण करते हैं जिसके लिए उन देशों से वे वस्तुएं अथवा तकनीक दूसरे देशों को आयात करनी पडती है। राजनीतिक वैश्वीकरण वैसे तो राजनैतिक रूप से सभी देशों को एक-दूसरे की सहायता करना व उनके हितों की रक्षा करना है परंतु वैश्विक राजनीति के केंद्र में भी शक्तिशाली देश ही रहते हैं जो राजनीति के द्वारा भी केवल अपना हित साधन ही करते हैं। जैसे - अमेरिका का ईराक और अफगानिस्तान पर हमला कर अधिकार स्थापित करना। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण अथवा भूमण्डलीकरण एक प्रकार का बाजारी उदारीकरण है जो विकसित देशों के आर्थिक लाभ को देखकर बनाया गया है।

विश्वबन्धुत्व –

विश्वबन्धुत्व शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है कि इस शब्द में सकल संसार के सभी प्राणियों के साथ भ्रातृत्व के भाव से आचरण करना। भारतीय संस्कृति के इस मूल भाव के समानांतर शब्द अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध नहीं होता है। वेदों में विश्वबन्धुत्व के उत्स को खोजा जाए तो अनेक स्थानों पर हमें ये उपलब्ध होते हैं। जिसके कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं -

१. सदाचार का आचरण –

परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥[४]

---

[४]यजु. – ४/२८

इस मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि- 'हे अग्ने मुझे दुराचार से हटाकर सच्चरित अथवा सदाचार में स्थापित कर। जिससे मैं श्रेष्ठ सदाचारी पुरुषों का आचरण करके उत्कृष्ट जीवन और सुदीर्घायु को प्राप्त करके उत्तम मार्ग में स्थित रहूं'।

विश्वबन्धुत्व के लिए सबसे पहले मनुष्य को सद्गुणों को धारण करना आवश्यक है। सद्गुणों को धारण करने से पहले आवश्यक है कि यदि पहले से अपने अंदर कोई दुर्गुण हैं तो उन्हें हटाया जाए। इसीलिए वेद में अन्यत्र भी प्रार्थना की गई है कि –

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥[५]

इस मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि 'हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण और दुर्व्यसनों को दूर कर दीजिए और जो कल्याणकारक गुण कर्म व पदार्थ हैं वह सब हमको प्राप्त कीजिए।'

इस प्रकार से सद्गुणों को धारण करने तथा सदाचार को धारण करने के द्वारा विश्वबन्धुत्व में अपनी भूमिका को निर्धारित करने का सङ्कल्प वेद का ऋषि करता है।

२. सत्यवादिता –

ऋतस्य जिह्वा पवते मधुप्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यां नाम तृतीयमधिरोचनं दिवः॥[६]

सत्यवादी, योगाभ्यासी की वाणी हृदय को तृप्त करने वाले आनंददायक रस को बहाती है। वह सत्यभाषण का पालक और सत्य ही बोलने वाला दुर्दमनीय होता है, वह किसी से दबाया नहीं जा सकता।

---

[५]यजु. – ३०/०३

[६]ऋग्वेद – ९/७५/२

सत्यवादी पुत्र माता-पिता की अज्ञात तथा अप्रसिद्ध कीर्ति को प्रकाशित कर देता है। सत्यवादी पुत्र तीसरे परमोत्कृष्ट द्युलोक में भी अपने माता-पिता के नाम को रोशन करता है।

इस मन्त्र का आशय यह है कि सत्यवादी सदा हृदय को तृप्त करने वाली मधुर वाणी ही बोलता है। कहा भी है –

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥

मन्त्र कहता है कि पापी दुराचारी सत्यभाषी को कष्ट देकर भी उसके सत्यभाषण रूप कर्म से उसको पृथक् नहीं कर सकता।

३. अहिंसा -

मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे॥[७]

इस मन्त्र में कहा गया है कि– 'हे ऐश्वर्यशाली लोगों! हिंसा मत करो। वृद्धि के लिए सदा यत्न करते रहो। सबसे महान् अध्यात्म ऐश्वर्य के लिए कठिन साधना करो। नौका के समान संकट को पार करने वाला पुरुषार्थी मनुष्य ही विजय प्राप्त करता है, बसता और बसाता है, समृद्ध होता है, फलता-फूलता है। दिव्यगुण दुराचार करने के लिए नहीं होते।'

मन्त्र का आशय यह है कि – शांति चाहने वाले लोगों को परस्पर हिंसा या मार-काट नहीं करनी चाहिए। एक-दूसरे के कल्याण या भलाई के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए। 'ब्रह्मतेजो बलं बलम्'[८] ब्रह्मतेज ही वास्तविक बल है। इसलिए आध्यात्मिक बल प्राप्त करने के लिए कठोर साधना करनी चाहिए।

---

[७] ऋग् – ७/३२/९

[८]वाल्मीकि रामायण – बालकाण्ड- ५६/३३

अहिंसा का अर्थ केवल शस्त्र से किसी दूसरे के ऊपर प्रहार न करने को ही नहीं कहते अपितु मनसा, वाचा, कर्मणा दूसरे को हानि न पहुँचाना ही वास्तविक अहिंसा है। क्योंकि कटु वाणी से किसी को कष्ट पहुँचाना तो दूर मन से भी किसी दूसरे के विषय में गलत सोचना मानसिक हिंसा की श्रेणी में आता है। अतः हमें किसी भी प्राणी की हिंसा से बचकर सबके प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।

४. शत्रुता, निन्दा द्वेष का अन्त –

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्विषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु॥[१]

इस मन्त्र में ऋषि कहता है कि जो हमारे प्रति शत्रुता करे, वैर विरोध रखे और जो मनुष्य हमसे ईर्ष्या द्वेष करता है और जो हमारी निंदा करे तथा जो हमारी निन्दा करे, हमारे साथ छल-कपट, धोखा करना चाहे। तू उन सब शत्रुता, द्वेष, निन्दा, छल को उसी प्रकार पीस डाल जैसे दाँतों में अन्न को पीसते हैं।

इस मन्त्र का आशय यह है कि यदि कोई व्यक्ति हमसे शत्रुता रखे द्वेष रखे तो हम उसका वध न करके उसके साथ ऐसा व्यवहार करें कि उसके अंदर रहने वाली शत्रुता, द्वेष, छल, की भावना नष्ट हो जाए। हम अपने निन्दक से भी प्रेम का व्यवहार करें जिससे वह निन्दा को छोड़कर मृदु आचरण करने लगे। ऐसा करना साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है अपितु ऐसा व्यवहार तो कोई वीतराग साधक संन्यासी ही कर सकता है। राजाओं के लिए यह नियम नहीं है, उन्हें तो शत्रु, द्वेषियों को मौत के घाट उतार देना चाहिए।

---

[१] यजुर्वेद – ११/८०

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[१०]

इस मन्त्र का भाव है कि भाई-भाई से द्वेष न करे तथा बहन-बहन से द्वेष न करे। परस्पर मिल-जुलकर सभी कार्यों को करते हुए कल्याण-कारिणी वाणी को बोले। यदि इस मन्त्र को विश्व के सभी परिवारी जन आत्मसात् कर लें तो आपस में वैमनस्य से पैदा होने वाले विवाद उत्पन्न ही नहीं होंगे।

५. प्रेमपूर्ण मधुर वाणी –

यद् वदेम मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः॥[११]

इस मन्त्र का यह भाव है कि हम जब भी बोलें, जो कुछ भी बोलें वह मधुर, सत्य, प्रिय, एवं हितकर हो। जो कुछ भी देखें उसे प्रेममयी दृष्टि से देखें। जब वाणी में माधुर्य और दृष्टि में प्रेम होगा तो मनुष्य ही नहीं अपितु प्राणीमात्र हमसे प्रेम करेंगे। सभी को ऐसा आत्मविश्वास रखना चाहिए कि मैं तेजस्वी, पराक्रमी, पुरुषार्थी और उत्साही हूँ। अतः जो हमारे प्रति वैर, विरोध ईर्ष्या, द्वेषऔर क्रोध की भावनायें रखते हैं उन्हें हम मार भगावें।

६. विश्वम् एकनीडम् –

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदँ सं च वि चैति सर्वं स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥[१२]

जिस ईश्वर में समस्त संसार एक घोंसले के समान है और उसी में

---

[१०]अथर्व. – ३/३०/३

[११]अथर्व. १२/१/५८

[१२]यजु. – ३२/८

यह संसार प्रलयकाल में विलीन हो जाता है। सर्गारम्भ में उसी से प्रकट होता है। वह परमेश्वर उत्पन्न होने वाली सभी सृष्टियों और प्राणियों में ओत-प्रोत है अर्थात् ताने और बाने के समान व्याप्त है। योगाभ्यासी, साधनाशील व्यक्ति उस सत्यस्वरूप नित्यब्रह्म को हृदय-गुहा में स्थित हुआ देखता है।

इस मन्त्र का यह भाव है कि यह संसार हमारे लिए बहुत बड़ा है किंतु यह ईश्वर में एक छोटे से घोंसले के समान है। इस मन्त्र के इस सिद्धान्त से ईश्वर की सर्वातिशयिता का तो बोध होता ही है साथ ही यह भी पता चलता है कि जिस प्रकार एक घोंसले में रहने वाले विजातीय पक्षी भी प्रेम से मिल कर रहते हैं, सभी पक्षियों में सबसे चतुर कहे जाने वाले कौए के घोंसले में जब परभृत कोयल अपने अण्डे रख देती है तो वह काक उनको अपने अण्डों की तरह ही पालन करता है इसी प्रकार सभी मनुष्यों को एक घोंसले में रहने वाले पक्षियों की भाँति एक-दूसरे की संवेदना को महसूस करते हुए रहना चाहिए।

७. कुसंगति का त्याग –

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्।
मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः ॥[१३]

हे जीवात्मन्! मूढ, मूर्ख, स्वार्थी, भोग-विलासी लोग तुझको नष्ट न करें, तुझ पर अधिकार न जमायें। व्यर्थ में सबका उपहास करने वाले मूढ भी मुझे नष्ट न करें। वेद और ईश्वर से द्वेष करने वालों का कभी भी सेवन, सङ्ग मत कर।

मनुष्य पर सङ्ग का बहुत प्रभाव पड़ता है –

'संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति' मनुष्य के अंदर गुण या दोष उसकी

---

[१३] ऋग् – ८/४५/२३

सङ्गति से ही उसमें जन्म लेते हैं। इसलिए व्यक्ति को कुसङ्ग से बचकर सत्सङ्ग में रहने का प्रयास करना चाहिए। सत्सङ्गति के विषय में भर्तृहरि लिखते हैं – 'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्' ।[१४] सत्सङ्ग करने का यह सिद्धान्त एक वैश्विक सिद्धान्त है न कि केवल भारतीय या वैदिक जीवन का।

८. संगठन सूक्त –

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥[१५]

हे बलवन्! समस्त सुखों के बरसाने वाले! हे ज्ञान के प्रकाशक, प्रभो! तू स्वामी सबका प्रेरक होकर समस्त प्राणियों और समस्त तत्त्वों को मिलाता है। तू भूमि पर अग्नि के तुल्य इस अन्न से बने देह में आत्मा के तुल्य, वाणी के परम् प्राप्तव्य ज्ञातव्य पद ओङ्कार के रूप में प्रकाशित होता है। वह तू हमें नाना ऐश्वर्य और लोकों को प्राप्त करा।

इस मन्त्र का आशय यह है कि हे ईश्वर! तू हमें सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान कर। वेद में मनुष्य को कहीं भी निर्धन रहने का उपदेश नहीं दिया गया है। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्[१६]' 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'[१७]। जहाँ अदीन रहने का उपदेश दिया है, वहीं सौ हाथों से कमाने और हज़ार हाथों से बाँटने का भी उपदेश वेद ने दिया है 'शतहस्त समाहरः सहस्त्रहस्त संकिरः'[१८]।

---

[१४]नीतिशतकम् – २३

[१५]ऋग् – १०/१९१/१

[१६]ऋग् –१०/१२१/१०

[१७]यजु. – ३६/२४

[१८]अथर्व. –३/२४/०५

सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥[19]

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है- हे मनुष्यों! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार से मिलकर रहो! परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो, विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के सब चित्त एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और भजन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न और उपास्य प्रभु का सेवन और उपासना करो।

विश्वबन्धुत्व का इससे बड़ा उपदेश देखने को नहीं मिलता। इसमें सभी मनुष्यों को साथ मिलकर चलने के लिए वेद का ऋषि उपदेश करता है। सबको अविरोधी रहकर प्रेमपूर्वक मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥[20]

इन सभी का विचार समान हो। परस्पर सङ्गति, मेल-जोल भी एक समान भेद-भाव रहित हो। इनका चित्त एक दूसरे के साथ हो। मैं आप लोगों को एक समान विचार वाला करता हूँ और एक समान भोज्य पदार्थ प्रदान कर पालित-पोषित करता हूँ।

वेद का ऋषि कहता है कि सभी मनुष्यों का विचार करने का तरीका समान होवे। परस्पर ऊंच-नीच, काला-गोरा आदि भेद भाव को समाप्त करके एक दूसरे की सङ्गति करें। मत-भेद यदि आपस में हो तो

---

[19] ऋग् – १०/१९१/२

[20] ऋग् –१०/१९१/३

भी मन-भेद न हों। क्योंकि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को एक समान विचार वाला बनाया है तथा समान अन्न आदि से वह सबको पोषित कर रहा है।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[२१]

आप लोगों का सङ्कल्प, निश्चय और भाव, अभिप्राय एक समान रहे। आप लोगों के हृदय एक समान हों। आप लोगों का मन समान हो। जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सर्वत्र एक साथ अच्छी प्रकार से हो सके। इस मन्त्र में ऋषि कहता है कि सभी मनुष्यों का सङ्कल्प, निश्चय एवं अभिप्राय समान हों। सभी के हृदय समान हों, किसी के हृदय में एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या या घृणा का भाव न रहे। सभी लोगों को एक दूसरे के साथ मिलकर सभी कार्य करने चाहिए।

उपसंहार –

वैश्वीकरण (globalization) एवं विश्वबन्धुत्व के सन्दर्भ में यदि विचार किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि वैश्वीकरण शब्द का अर्थ सम्पूर्ण विश्व को एक बाज़ार मानना है। जिसमें सभी देश एक-दूसरे पर हर प्रकार से निर्भर हैं। वस्तुतः देखा जाए तो अमीर एवं शक्तिशाली देशों ने वैश्वीकरण शब्द और उसकी भावना के द्वारा गरीब और कमजोर देशों का शोषण किया है। जैसे बाज़ार में झूठ बोलकर छलद्वारा ग्राहक से लाभ कमाया जाता है, बाज़ार में किसी वस्तु की कमी का प्रचार करके उस वस्तु को ज्यादा मूल्य पर बेचकर लाभ कमाया जाता है। उसी प्रकार दवा उत्पादक देश एक विषाणु को फैलाकर उससे प्रभावित देशों में अपनी दवाईयाँ बेचकर लाभ कमाते हैं। राजनीति से सशक्त शस्त्र-निर्माता देश किन्हीं दो देशों में युद्ध कराकर उन दोनों को शस्त्र बेचकर

---
[२१]ऋग् – १०/१९१/४

लाभ कमाते हैं। प्राकृतिक स्रोतों से युक्त देशों पर किसी भी व्याज से अधिकार कर उनकी प्राकृतिक सम्पत्ति पर अधिकार करने का प्रयास करने का प्रयास करते हैं। सांस्कृतिक रूप से अपने धर्म के प्रचार की आड़ में वहाँ के संसाधनों पर अधिकार करने का षड्यंत्र करते हैं।

विश्वबन्धुत्व शब्द सम्पूर्ण विश्व के समस्त मानव समुदाय ही नहीं अपितु प्राणिमात्र में सद्भाव तथा बन्धु का भाव उत्पन्न करने के लिए है। विश्वबन्धुत्व शब्द को अंग्रेजी में यद्यपि Universal Brotherhood कह सकते हैं परन्तु इस शब्द समूह में 'विश्वबन्धुत्व' शब्द का भाव सम्पूर्ण रूप से नहीं आ सकता। विश्वबन्धुत्व के सूत्र वेद में सर्वत्र बिखरे पडे हैं। चूंकि वेद की सभी प्रार्थनायें बहुवचन में हैं वे किसी एक व्यक्ति या समुदाय के लिए सीमित नहीं हैं जैसे– **वयं स्याम पतयो रयीणाम्**[२२]**, सं गच्छध्वम्**[२३]**, अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्**[२४]**, जीवेम शरदः शतम्**[२५] **आदि।** ये प्रार्थनायें प्राणिमात्र के लिए हैं इनमें कोई भेदभाव नहीं है। वैदिक शान्ति पाठ को ही देखें तो - उसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, पृथ्वी, जल, ओषधि, वनस्पति, विश्वेदेव आदि ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्वों में शान्ति की कामना है। जहाँ तक पश्चिम की दृष्टि अठारहवीं शताब्दी तक भी नहीं पहुँची उन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के तत्त्वों में शान्ति की कामना वेद में की गई है। अंग्रेजी विद्वान् मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध भाषण 'हम भारत से क्या सीखें ?' में संस्कृत भाषा के विषय में कहा है "विश्वबन्धुत्व का जो उपदेश हमें इस भाषा में मिलता है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता

[२२]ऋग् – १०/ १२१ / १०

[२३]ऋग् – १०/ १२१ / २

[२४]यजु. – ४० / १६

[२५]यजु. ३६/ २४

था। यदि संस्कृत से हमें अन्य कोई उपलब्धि नहीं हुई होती तो भी केवल इसी एक उपलब्धि के सहारे उसकी उपादेयता सर्वाधिक ही रहती।"[२६]

अतः यह सर्वथा प्रमाणित है कि विश्वबन्धुत्व की स्थापना वेद के सिद्धान्तों से ही की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची -

१. ऋग्वेद - आर्य साहित्य मण्डल लि., अजमेर, वि.सं. २००८

२. यजुर्वेद - आर्य साहित्य मण्डल लि., अजमेर, वि.सं. १९८६

३. अथर्ववेद - आर्य साहित्य मण्डल लि., अजमेर, वि.सं. १९८५

४. नीतिशतकम्-भर्तृहरि, व्याख्याकार - डॉ. सावित्री गुप्ता, विद्यानिधि प्रकाशन, सन् - २०१७

५. वाल्मीकिरामायणम् - महर्षि वाल्मीकि, गीता प्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०७३

६. हम भारत से क्या सीखें – फ्रेडरिक मैक्समूलर के भाषणों 'India What Can It Teach Us' का हिंदी अनुवाद, अनु.- कमलाकर तिवारी एवं रमेश तिवारी, इतिहास प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद, सन् १९६४ ई.

७. वीकिपीडिया - इन्टरनेट

[२६]हम भारत से क्या सीखें – पृ. – ४७

यज्ञ के सन्दर्भ में संज्ञपन आदि शब्दों की मीमांसा

डा० वेदव्रत[१]

भारतीय संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है। यज्ञ धर्म एवं कर्म प्रधान भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ है। यज्ञ मानव की कामनाओं का पूरक होने के साथ-साथ[२] सृष्टिचक्र का केन्द्रबिन्दु भी है।[३] महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसको संसार का श्रेष्ठतम कर्म कहा है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।**[४]

यज्ञ शब्द **यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु** धातु से नङ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। यज् धातु के तीन अर्थ हैं- **देवपूजा, सङ्गतिकरण** एवं **दान**। संसार के कल्याण के निमित्त निःस्वार्थ भाव से दानक्रिया करने वाले सूर्य, चन्द्रादि अथवा विद्यादि शुभगुणों के कारण लोक को देदीप्यमान करने वाले विद्वज्जन **देव** कहलाते हैं। यथायोग्य व्यवहार करना **पूजा** है। इस प्रकार अग्नि, जल, वायु आदि एवं विद्वज्जनों के साथ

---

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार**

[२] एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। गीता ०३.१०

[३] अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। यजु० २३.६२

[४] शत०ब्रा० १.७१.५

यथोचित व्यवहार करना देवपूजा है। संसार के प्राणियों के निमित्त किन्हीं पदार्थों को यथोचित मात्रा में मिलाना अथवा विद्वज्जनों के साथ मेल करना **सङ्गतिकरण** कहलाता है। विद्या एवं धन आदि का लोककल्याण के लिए प्रयोग करना दान है। इस प्रकार देवपूजा, सङ्गतिकरण एवं दान जिस क्रिया में समाहित होते हैं, वह यज्ञ कहलाती है।

वस्तुतः यज्ञ जीवन प्रदान करने तथा जीवन जीने की कला को सिखाने वाला साधन है। इसीलिए गीता में यज्ञ को कर्मसमुद्भव कहा गया है। यज्ञ किसी भी प्रकार की हिंसा से रहित होकर की जाने वाली क्रिया है। संस्कृत साहित्य में यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ध्वर का अर्थ है- हिंसा करना तथा जो हिंसा से रहित हो, उसे अध्वर कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ में आहुत किए जाने वाले द्रव्यों के सन्दर्भ में राजा जनक एवं महर्षि याज्ञवल्क्य का आख्यान प्राप्त होता है। इस संवाद में वर्णित आहवनीय द्रव्यों में भी मांस का उल्लेख नहीं है।[५] इससे भी स्पष्ट होता है कि यज्ञ हिंसादि क्रियाओं से रहित होते हैं। यज्ञ का यह विशुद्ध स्वरूप अनन्तकाल तक अनवरत रूप से लोक में प्रचलित रहा किन्तु कालान्तर में हिंसादि दोष तथा आडम्बर से रहित यज्ञों में प्रदूषित भाव एवं क्रियाएँ सम्पृक्त हो गईं। वेद के यथार्थ अर्थ से अनभिज्ञ स्वार्थी, जिह्वालोलुप धूर्तों ने यज्ञ में पशुहिंसा का प्रवर्तन किया-

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवान्ततम्॥[६]

चरक संहिता[७] की भाँति बौद्ध साहित्य में भी इस प्रकार के स्पष्ट

---

[५] शत०ब्रा० ११.३.१.२-४

[६] महा०शा० २६३.६

[७] **आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीयाः बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो**

प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि भोग लोलुप मनुष्यों ने मिथ्या मन्त्र बना कर इक्ष्वाकु को पशुओं के मांस से यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया-

ते तत्थ मन्ते गन्थे त्वा ओक्कासं तदुपागमुम्।

पहूत धन धञ्ञोऽसि यजस्सु बहु ते धनम्॥[८]

यज्ञ में हिंसा के प्रवर्तन के लिए स्वार्थी मनुष्यों ने पशुयाग, संज्ञपन, आलभन आदि पदों की विकृत व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं तथा इनसे सम्बद्ध अनेक क्रियाओं का विकृत स्वरूप जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया। प्रस्तुत लेख में मुख्यतः इन्हीं शब्दों पर विचार किया जायेगा।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो यज्ञ नाटक के तुल्य प्रतीत होते हैं अर्थात् जिस प्रकार नाटक में की जाने वाली क्रियाएँ प्रतीकमात्र होती हैं, उसी प्रकार यज्ञ की क्रियाएँ भी प्रतीक मात्र ही हैं। स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती ने **"अद्भुत कुमारसम्भव"** नामक लेख में इस विषय को विस्तार से प्रतिपादित किया है। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि यज्ञों की प्रतीकात्मकता को न जानकर व्याख्याकारों ने अर्थ का अनर्थ कर दिया गया।

यदि यज्ञ प्रतीकात्मक हैं तो यज्ञ के प्रतीकार्थ को जानने पर ही फल की प्राप्ति सम्भव है। आचार्य सायण लिखते हैं कि **तत्र कर्मणां भावनापुरस्सरमनुष्ठाने फलविशेषो भविष्यति**[९] अर्थात् यज्ञ की क्रियाओं की भावना (प्रतीकार्थ) को जानकर ही यज्ञ करने पर फल विशेष की प्राप्ति हो सकती है।

दक्षयज्ञप्रत्यवरकाले मनो पुत्राणां नरिष्यन् नाभोगेक्ष्वाकुनृगमशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः। चरक संहिता १९.४

[८] बौद्ध त्रिपिटक, ब्राह्मण धम्मिय सुत १८ एवं १९

[९] शत०ब्रा० १०.१.१.१

पशुयाग-

अनेक वैदिक विद्वानों ने यागों की प्रतीकात्मकता को समझकर पशुयागों को सृष्टि याग माना है। यह उन विद्वानों की कपोलकल्पना नहीं है अपितु इसके प्रमाण भी वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद के मन्त्र में तो स्पष्ट ही कहा है कि लोक को जानने के लिए परमात्मा ने यज्ञ की रचना की- **तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत।**[१०] पशुयाग को समझने से पूर्व पशु शब्द को जानना नितान्त आवश्यक है। यद्यपि लोक में पशु शब्द का प्रयोग गो, महिषी आदि चतुष्पाद प्राणियों के लिए होता है, किन्तु वैदिक साहित्य में अग्नि, वायु एवं सूर्य आदि के लिए भी अनेकत्र पशु शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है-

अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।[११]

आचार्य यास्क भी **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः** मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर इसी तथ्य का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः- अग्निना अग्निमयजन्त देवाः।
अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्॥[१२]

तैत्तिरीय संहिता में वर्णन आता है कि दधि, मधु, घृत, दूध एवं धान आदि पशुओं के रूप हैं। अतः इनके द्वारा ही पशुयाग करता हूँ।

संज्ञपन-

यज्ञीय प्रसङ्ग में संज्ञपन शब्द के अर्थ का भी अनर्थ व्याख्याकारों ने किया है। सम् उपसर्ग पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर

---

[१०] अथर्व० ११.३.५२

[११] शु०यजु० २३.१७

[१२] निरु० १२.४४

संज्ञपन शब्द निष्पन्न होता है। पाणिनीय धातुपाठ में ज्ञा धातु मारण, तोषण एवं निशामन अर्थों में प्रयुक्त है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि प्रायः व्याख्याकारों ने सर्वत्र तोषण एवं निशामन (दर्शन करना) अर्थ को स्वीकार न करते हुए मारण अर्थ को ही स्वीकार किया है। प्रकरण आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों का अर्थ निश्चय करना श्रेयस्कर होता है। उदाहरणार्थ हन् धातु के हिंसा एवं गति दो अर्थ होते हैं। लोक में यह धातु मारना (वध करना) अर्थ में प्रयुक्त होती है। किन्तु वाल्मीकि रामायण में भगवान् श्रीराम एवं खर के युद्ध के वर्णन के प्रसङ्ग में हन् धातु का बहुधा प्रयोग आया है, जिसका प्रकरण आदि के अनुसार प्रहार करना अर्थ विद्वानों ने स्वीकार किया है।[१३]

आचार्य उदयवीर शास्त्री मीमांसा दर्शनम् के विद्योदयभाष्य की भूमिका में संज्ञपन के सन्दर्भ में लिखते हैं कि "**ज्ञात होता है, उस अति प्राचीन काल में जो यज्ञों का प्रारम्भिक काल था, ज्ञा धातु का प्रयोग मारण अर्थ में न होकर शेष दो अर्थों में ही होता था। जब उन नृशंस क्रूर रसनालोलुप याज्ञिकों ने जाँच-परीक्षा, दर्शन, अवलोकन के लिए आने वाले पशुओं में से कतिपय पशुओं को धर्म के नाम पर आहुत करना और खाना प्रारम्भ कर दिया, तब इस धातु के अर्थों के साथ मारण को भी जोड़ दिया गया।**"

इसी प्रसङ्ग में आचार्य उदयवीर शास्त्री पुनः लिखते हैं कि "**अमावास्या का दिन इस कार्य के लिए निर्धारित था कि उस दिन के इष्टि अनुष्ठानों के अवसर पर स्थानीय पशुओं की स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से परीक्षा, जाँच पड़ताल की जाये, जिससे राष्ट्र की पशु सम्पदा**

---

[१३] तथा नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः।
आजघान रणे रामं तौत्रैरिव महाद्विपम्॥ वा०रा० अर०का० २८.१०

स्वस्थ व सुरक्षित रहे।"

शतपथ ब्राह्मण में मन एवं वाक् के विषय में एक आख्यान प्राप्त होता है, जिसका एक वाक्य है-

अथह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि यद्वै त्वं वेत्थ अहं तद् विज्ञपयामि अह संज्ञपयामीति।[१४]

इस पर वाणी बोली- मैं ही तुझसे बड़ी हूँ। क्योंकि जो कुछ तू जानता है, उसे मैं ही विज्ञापन करती हूँ, मैं समझाती हूँ। आचार्य सायण ने इस वाक्य के संज्ञपयामि पद का अर्थ **सम्यक् प्रतिपादयामि** ही किया है।

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में वसतीवरी एवं धना नाम वाली दो आपः की परस्पर कलह का वर्णन है। जब इस कलह को भृगु ऋषि ने देखा तो उन्होंने उन दोनों को समझाकर उन्हें एक मत कर दिया- **ता भृगुरपश्यदापो वै स्पर्धन्त इति। ता एतयर्चा समज्ञपयत्।**[१५] इस स्थल पर भी आचार्य सायण ने **समज्ञपयत्** का अर्थ **संज्ञानम् परस्परैकमत्यमप्रापयत्** किया है।

वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो? पुस्तक में वेदों के अद्भुत विद्वान् **पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी महारान** ने विविध प्रमाणों के आधार पर संज्ञपन आदि शब्दों का यथार्थ स्वरूप विस्तार से प्रतिपादित किया है। स्वामी जी ने शतपथ एवं ऐतरेय ब्राह्मण के अनेक प्रमाणों के आधार पर संज्ञपन का अर्थ **भलीभाँति जानना** और **पहचानना** सिद्ध किया है।[१६]

---

[१४] शत० १.५.७.१०

[१५] ऐतरेय ८ अध्याय २ खण्ड

[१६] वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो? पृ० २६

अश्वमेध याग के प्रसङ्ग में आये हुए '**एष वा स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति**' वाक्य के संज्ञपयन्ति पद का अर्थ विद्वानों ने संज्ञपन का अर्थ प्रायः मारना करते हुए वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया है कि **वह स्वर्ग लोक है, जहाँ अश्व का वध किया जाता है।** कोई भी तार्किक एवं प्रबुद्ध व्यक्ति इस अर्थ को उचित नहीं मान सकता। विद्वानों ने इस वाक्य के प्रतीकार्थ को न समझते हुए अर्थ का अनर्थ ही किया है। पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वतीजी महाराज ने इसके प्रतीकार्थ को समझते हुए इस वाक्य की अतीव तर्क सङ्गत व्याख्या की। स्वामी जी लिखते हैं कि **वह स्थान स्वर्ग है, जहाँ पशु भाव के लोगों को सुशिक्षित किया जाता है।**

पशु शब्द दृशिर् प्रेक्षणे धातु से औणादिक कु[१७] प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। **पश्यतीति पशुः** अर्थात् जो केवल देखता है, किन्तु चिन्तन-मनन करने में असमर्थ होता है, उसे (अर्थात् बालबुद्धि अथवा मूर्ख को) पशु कहते हैं। लोक में पशु शब्द का प्रयोग इस अर्थ में बहुधा दृष्टिगोचर होता है। इस लौकिक अर्थ को दृष्टिगत रखते हुए पूज्य स्वामी जी महाराज के द्वारा संज्ञपयन्ति पद का किया गया अर्थ सर्वथा शास्त्रानुकूल एवं यथार्थ है।

आलभन –

यज्ञ के प्रसङ्ग में आने वाली आलभ् एवं आलम्भ् धातुओं के विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा किए गए अर्थ भी चिन्तनीय हैं। प्रायः समस्त पशुयागों में आलभते एवं आलभेत पदों का प्रयोग हुआ है। कर्मकाण्ड के विषय में आलभन पद की दुर्व्याख्या भी चिन्तनीय है। चिन्तनीय इसलिए है क्योंकि इसका अर्थ प्रायशः विद्वानों ने पशुयागों के प्रसङ्ग में मारना अथवा काटना किया है किन्तु अन्य स्थलों पर इसका अर्थ प्राप्त

---

[१७] अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकारश्च। उणा० १.२७

करना अथवा स्पर्श करना किया है। उपनयन व विवाहादि संस्कारों में **हृदयमालभते, अङ्गानि आलभ्य** आदि प्रयोगों में आलभते एवं आलभ्य का अर्थ उपलब्ध करना अथवा प्राप्त करना ही मिलता है, कहीं पर भी इन पदों का अर्थ मारना आदि प्राप्त नहीं होता।

यजुर्वेद के "**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते**"[१८] मन्त्र में आए हुए आलभते पद का अर्थ कात्यायन श्रौतसूत्रकार, उव्वट तथा महीधर ने **तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः न तु हिंस्याः** किया है।

अनेक व्याख्याकार आलभ् एवं आलम्भ् धातुओं को एक ही मानते हैं। जबकि ये दोनों धातुएँ स्वतन्त्र धातुएँ हैं। आयुर्वेदीय चरक संहिता में एक स्थान पर दोनों ही धातुएँ स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुई हैं। इस प्रसङ्ग में पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं-

"**उत्तरकाल में जब लम्भ के अधिकांश प्रयोग नष्ट हो गए, तो पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने लम्भ धातु से निष्पन्न भाषा में अल्पावशिष्ट प्रयोगों का लभ धातु में नुम् का आगम करके अन्वाख्यान कर दिया। इसी धात्वैक्यकल्पना के कारण आलम्भ धातु का जो अर्थ था, वह आलभ का समझा जाने लगा।**[१९]

प्रकृत में हमारा यही कहना है कि जिन आलम्भ आलम्भनीय आलम्भ्या आदि शब्दों का सम्बन्ध पाणिनि ने लभेश्च; आङो यि (अष्टाध्यायी ७.१.६४, ६५) **सूत्रों के द्वारा लभ धातु से नुम् का आगम करके दर्शाया है, उन प्रयोगों की मूलभूत प्रकृति लभि=लम्भ स्वतन्त्र**

---

[१८] यजु. २४.२०

[१९] जैमिनीय मीमांसा भाष्य, श्रौत यज्ञ मीमांसा, पृ० १४३, प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, वर्ष १९८७

धातु थी।[२०]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यज्ञ तो संसार के कल्याण के निमित्त आत्मोत्सर्ग के सतत शिक्षित एवं प्रेरित करता है। यज्ञ आत्मसुख के लिए निरीह प्राणियों की हत्या का कथमपि समर्थन नहीं करता। वेदों में अनेकत्र गो, अश्वादि पशुओं की हिंसा प्रतिषिद्ध की गई है-

गां मा हिंसीरदितिं जजान।[२१]

अश्वं जज्ञानं ... मा हिंसीः।[२२]

अविं जज्ञानं ... मा हिंसीः।[२३]

कर्मकाण्डपरक यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही यजमान के पशु की रक्षा करने की प्रार्थना है- **यजमानस्य पशून् पाहि।** वैदिक याग के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी महाराज के द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करना अत्यन्त आवश्यक है। इससे भिन्न इन यागों को जानने का अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता- **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

---

[२०] जैमिनीय मीमांसा भाष्य, श्रौत यज्ञ मीमांसा, पृ० १४४, प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, वर्ष १९८७

[२१] यजु० १३.४३

[२२] यजु० १३.४२

[२३] यजु० १३.४४

नेहरु-नीति की दुर्बलता

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार

मन्त्री, भारतीय लोकसंघ[1]

पुरोवाक् -

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने श्री पं. जवाहरलाल जी नेहरु ने जो विवरण उपस्थित किया है, वह कई दृष्टियों से बहुत विचाराकर्षक है ।

ईमानदारी -

इस विवरण की सबसे बड़ी विशेषता ईमानदारी है, नेहरु जी ने अपना विवरण देते समय न तो व्यर्थ की लीपापोती की है, न डींग हाँकी है। अपने कार्य का दृष्टिपात करते समय, अपनी अपूर्णताओं को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है और यदि ईमानदारी सुव्यवस्था का स्थान ले सकती तो नेहरु शासन में कोई त्रुटि नहीं परन्तु दुःख तो यह है कि ईमानदारी भविष्य के निर्माण में सहायक तो हो सकती है परन्तु भविष्य निर्माण का स्थान नहीं ले सकती। आज हम नेहरु जी के इस विवरण पर विचार करना चाहते हैं।

---

[1] यह लेख पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार जी के द्वारा नेहरु जी की नीति के विरोध में लिखा गया था।

पूर्व कार्यता -

नेहरु जी के विवरण के सम्बन्ध में हमे सबसे पहिला आक्षेप यह करना है कि इसमें सबसे पहिला स्थान भोजन की समस्या को दे दिया है। वे कहते हैं - The food problem necessity is of topmost priority. अर्थात् भोजन की समस्या को अबाध्य रूप से सर्वोच्च पूर्व कार्यता प्राप्त है। एक दृष्टि से यह ठीक भी है परन्तु वस्तुतः सबसे प्रथम स्थान एक दूसरी ही समस्या को मिलना चाहिये, दुःख है कि उसे नेहरु जी ने बिल्कुल गौण स्थान दिया है। वह समस्या क्या है? सो उन्हीं के शब्दों में सुनिये -

The present rules governing government servants make it difficult to distinguish much between the efficient and the inefficient, the good worker and the bad, the man of integrity and the man whose integrity is in doubt. It is difficult to measure efficiency in terms of government rules; it is still more difficult to get proof of lack of integrity. These rules must be changed, so that even the reputation for lack of integrity should be enough to prevent an officer from holding any position of responsibility or influence.

आगे चलकर वे लिखते हैं -

We must Endeavour to maintain moral standards in our public work.

आगे और लीजिएः--

Unhappily during the war and afterwards various types of corruption have grown. Controls

have added to them and general standards have fallen, both in government servants and in public. Black marketing in India is not merely an individual offence but a social evil. There can be no two opinions that adjusted measure should be taken to check and end this degradation of public life.

राज्य कर्मचारियों पर लागू होने वाले वर्त्तमान नियम कुशल, अकुशल, उत्तम काम करने वाले तथा निकम्मे, ईमानदार तथा सन्दिग्धाचार कार्यकर्ताओं में विवेक होना कठिन बना देते हैं। कार्यक्षमता को शासन नियमों द्वारा नापना कठिन है, मिथ्याचारी के मिथ्याचार का प्रमाण संग्रह करना उससे भी कठिन है। इन नियमों में परिवर्त्तन अवश्य होना चाहिये और किसी दायित्वपूर्ण तथा प्रभावशाली पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति का मिथ्याचार सम्बन्धी अपयश भी इसके लिये पर्याप्त होना चाहिये कि उसे अपदस्थ किया जा सके।

अपने लोक जीवन में चरित्र का ऊँचा स्तर स्थित रखने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

बड़े दुःख की बात है कि पिछले महायुद्ध में तथा उसके पश्चात् कई प्रकार के भ्रष्टाचार देश में बढ़ गये हैं, कन्ट्रोलों से इनमें और वृद्धि हो गई है। चरित्र के स्तर में क्या राज कर्मचारियों में, क्या प्रजा में सर्वतोमुख अधःपतन हुआ है। भारत में काला बाजार केवल इने-गिने व्यक्तियों का अपराध मात्र नहीं, किन्तु एक व्यापक सामाजिक रोग हो गया है, इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकते कि इस अधःपतन की रोकथाम तथा निर्मूलता के लिए उचित कार्यवाही प्रयोग में आनी चहिये।

वह उचित कार्यवाही क्या होगी?

नियमों में परिवर्तन -

सच है, ईमानदार आदमी प्रथम तो किसी को धोखा देते नहीं परन्तु यदि देते हैं तो अपने आप को देते हैं। हे नेहरु जी! यह रोग केवल नियमों में परिवर्त्तन से दूर हो जायेगा, जबकि आप स्वयं कहते हैं कि यह Individual offence नहीं किन्तु सामाजिक रोग है। हे नर नायक! वह रोग तो सारे राष्ट्र के सामूहिक प्रयत्न से दूर होगा और वह भी दिन-रात पागलों की तरह इस के पीछे पड़ेंगे तब। भला भोजन इससे दुगनी मात्रा में भी पैदा हो गया परन्तु राज कर्मचारी ईमानदार न हुए तो प्रजा तो भूखी ही भूखी रहेगी। इसलिये सबसे पहिली बात तो यह है कि इसे भोजन समस्या से भी पहिला स्थान मिलना चाहिये।

अब से पहिले यह काम धार्मिक शिक्षा द्वारा होता था।

अब आपने जबसे सम्प्रदाय निरपेक्ष राज्य सेक्यूलर स्टेट का नारा लगाना आरम्भ किया है, तब से चरित्र निर्माण की यह आधार भित्ति तो नष्ट हो गई और उसके स्थान पर दिया कुछ नहीं गया।

साम्प्रदायिक-कलह से डर कर आप धर्महीनता के ग्रास हो गए, बिच्छू से डर कर काल सर्प के मुख में जा गिरे। आपने यह बिल्कुल नहीं विचारा कि सम्प्रदाय हीन होते होते राज्य कहीं धर्महीन, चरित्रहीन न हो जाये, फ़िर यह चरित्रनिर्माण कानूनों द्वारा नहीं हो सकता, चरित्रनिर्माण का समय है? बालकपन अर्थात् शिक्षाकाल, वहाँ सम्प्रदाय के साथ धर्म अर्थात् सदाचार को भी अर्धचन्द्र दे दिया गया है।

यह भी भली बात है कि नेहरु जी को कभी-कभी इस बात का ध्यान आ जाता है परन्तु इससे लाभ कुछ नहीं, लाभ तो तब ही होगा, जब हम 'अन्न उपजाओ' से भी बढ़कर स्थान 'चरित्र उपजाओ' को देंगे, परन्तु वह दिन आयेगा कब? नेहरु देव यह अवश्य बताइए।

क्या नेहरु से भी न्याय की आशा न की जावे?

नेहरु महापुरुष है, वह स्वीकार करके 'स्वीकार करने वाला' नेहरु पर कोई एहसान नही करता, किन्तु 'अपना' कल्याण करता है। पूज्य की पूजा से पूजा करने वाले का भला होता है, पूज्य पर कोई उपकार नहीं होता। नेहरु निस्सन्देह महापुरुष है। यह केवल भारत का ही नहीं, विश्व का वन्दनीय महापुरुष है। ऐसे महापुरुष से मतभेद रखना और उसे प्रकाशित करना कुछ हंसी खेल नहीं। मनुष्य लोकभय और राजभय को तो जीत सकता है, परन्तु किसी महापुरुष से मतभेद रखने के समय जो अन्तर्भय उपस्थित होता है, उसे जीतना कठिन है। इसलिये जब कोई मनुष्य ऐसे महापुरुष से मतभेद प्रकाशित करने का साहस करता है तो सिवाय अन्तरात्मा की अदम्य प्रेरणा के, कोई शक्ति उसे साहस के लिये तैयार नहीं कर सकती।

आज मैं अपने आप को ऐसी अवस्था में पाता हूँ। नेहरु नीति से सम्पूर्ण राष्ट्र का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा, ऐसा मैं अनुभव कर रहा हूँ। हर प्रकार से मैं अपने आप को समझाता हूँ कि मैं भूल पर हूँ, परन्तु हृदय किसी प्रकार मानता ही नहीं। इसलिये अन्त को विवश होकर जनता के सामने उपस्थित हो रहा हूँ।

साम्प्रदायिकता -

नेहरु जी ने लियाकत अली के साथ मिलकर एक समझौता किया, जो आज नेहरु-लियाकत पैक्ट के नाम से विख्यात है। देश में बहुत बड़ी संख्या और मेरा विश्वास है, प्रजा की बहुसंख्या, इस समझौते के विरुद्ध है। हो सकता है यह मेरी भूल हो, परन्तु मेरा पहिला निवेदन तो यह है कि इस समझौते को भूल मानने वाले को सम्प्रदायवादी नहीं कहा जा सकता। आज यह एक नया अत्याचार आरम्भ हुआ है कि जो कोई

पाकिस्तान के विरुद्ध कुछ घोषणा करने को कहे, उन सब को सम्प्रदायवादी कह कर उनका मुँह बन्द करने का यत्न किया जाता है। नासिक कांग्रेस में नेहरु जी सम्प्रदायवादियों के विरुद्ध खूब गर्जे। उन्होंने कहा कि यदि पाकिस्तान में अत्याचार हो, तो यह कहां का न्याय है कि उस का बदला भारत के मुसलमानों से लिया जाये? परन्तु मैं पूछता हूँ कि यह कहता कौन है? भारत की प्रजा की मांग है कि पाकिस्तान को उसके अत्याचारों का दण्ड दिया जाये। जब उन्हें दण्ड नहीं मिलता तो दुःखी लोग क्रोध के आवेश में कुछ अन्धाधुन्ध काम कर बैठते हैं, परन्तु उन का समर्थन कोई नहीं करता। जब कोई पिता अपनी जवान लड़की का विवाह नहीं करता तो उसका पैर फिसल जाता है। यदि उस समय भी उसका पैर न फिसले तो, शाबाश! किन्तु यदि फिसल जाय, तो सारा संसार उस पिता को धिक्कार देता है जो जवान लड़की के विवाह का प्रबन्ध नहीं करता। पाकिस्तान के अत्याचारों के विरुद्ध रोष-कारी भावना उतनी ही न्याय–युक्त तथा मर्य्यादानुकूल है, जितना जवान लड़की के हृदय में विवाह की इच्छा, जो राजा अपनी प्रजा की इस भावना के सन्तोष का उचित प्रबन्ध नहीं करता, उसे प्रजा के पैर फिसलने के लिये तैय्यार रहना चाहिये। कोई सज्जन यह नहीं चाहता कि लड़कियों के पैर फिसला करें, किन्तु फिसल ही जाते हैं। किसी मनुष्य को चोर और हत्यारे होने का दण्ड दिया जा सकता है; किन्तु महात्मा गांधी न होने का दण्ड नहीं दिया जा सकता!

इस्लाम का पैगम्बर -

होंगे इस देश में वह भी कोई लोग जो मुसलमानों से मुसलमान होने के कारण घृणा करते हैं। हमारी उनसे तनिक भी सहानुभूति नहीं, किंतु पाकिस्तान के अत्याचारों से घृणा करना इस्लाम या मुसलमानों से

घृणा करना नहीं, उलटा इस्लाम का आदर करना है। ला इकराह फिद्दीन, (सूरे हज्ज, १८ पारा, आयत ७) अर्थात् दीन में जबरदस्ती नहीं। यही वह आयत है, जो मियां जफरुल्ला ने संयुक्त राष्ट्र संघ की कचहरी में पढ़कर सुनाई थी। खुद इस्लाम के पैगम्बर की जिंदगी को देखिए। एक शैतान औरत मक्के में दिनभर का कूड़ा जमा करके बैठती थी। जब हजरत रसूलिल्लाह उस गली से गुजरते तो ठीक उसी समय वह कूड़ा नीचे गिराती थी। एक दिन वह बुखार में बेबस पड़ी थी; जब हजरत गली से गुजरे तो उस दिन कूड़ा नहीं आया। हजरत ने गली वालों से पूछा की आज कूड़ा नहीं आया; लोगों ने कहा कि आज तो वह बुखार में पड़ी है। इस पर वे उस के सिरहाने जाकर पूछने लगे कि सुना है तुम्हें बुखार ने घेर लिया है, बताओ मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूँ? इस पर वह पानी-पानी हो गयी और हजरत के पैरों पर गिर पड़ी। यह है इस्लाम के पैगम्बर का जीवन। इस के खिलाफ कुरान में बहुत-सी जगह काफिरों को मारने और उनके प्रति जिहाद करने की भी शिक्षा है परन्तु आज के शिक्षित मुसलमान 'काफिर' का अर्थ 'बुरा आदमी' या 'हमला करने वाला हत्यारा' करने लगे हैं, और पहिले भी बहुत से मुसलमान फकीर ऐसा ही समझते थे।

असली और नकली मुसलमान -

इन्हीं मुसलमानों के वर्त्तमान प्रतिनिधि मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, शेख अब्दुल्ला और ब्रिगेडियर उसमान हैं। इन्हीं के प्रतिनिधि वे भारत के सच्चे प्रेमी खान अब्दुल गफ्फार खाँ और डा. खाँ साहिब हैं, जो अपने हजारों साथियों समेत आज पाकिस्तान की जेलों में सड़ रहे हैं। जो लोग पाकिस्तान से युद्ध की बात करते हैं, वे इस्लाम के या मुसलमानों के दुश्मन नहीं, बल्कि इन जाली मुसलमानों के दुश्मन हैं। जिन्होंने

पाकिस्तान बनाकर इस्लाम के पवित्र नाम पर धब्बा लगाया है। अगर कोई जाली सिक्के को मिटाना चाहता है, तो इसलिए तो कि उसके दिल में असली सिक्के के लिए इज्जत है; इसलिए पाकिस्तान के वे विरोधी, जिनका एक प्रतिनिधि मैं अपने आपको समझता हूँ, न तो इस्लाम के विरोधी हैं, न सम्प्रदायवादी, वे तो सम्प्रदायवाद के गढ़, पाकिस्तान के विरोधी हैं और इसलिए हैं क्योंकि वह सम्प्रदायवाद का गढ़ है। इस सम्प्रदायवाद के मूर्तिमान् अवतार लियाकत अली के साथ समझौते करके, आप सम्प्रदायवाद की जड़ें मजबूत कर रहे हैं। क्या इस्लाम का प्रतिनिधि संसार में लियाकत अली ही है? नेहरु जी! या तो अब्दुल गफ्फार खाँ मुसलमान नहीं या लियाकत अली नहीं, दोनों एक नहीं हो सकते। हमारी लड़ाई मुसलमानों से नहीं, जाली मुसलमानों से है। फिर हम पूछना चाहते हैं, हम सम्प्रदायवादी किस प्रकार हो सकते हैं?

झूठे के साथ समझौता कैसा?

आपने लियाक़त अली और पाकिस्तान की घोषणाओं को अनेक बार झूठ का पुलिन्दा कहा? फिर उसी के साथ सौदे भी करते हैं। हे नीतिज्ञ-राज! झूठे के साथ सौदा करना कहाँ की राजनीति है?

युद्ध क्यों हो ?

आप नासिक के भाषण में कहते हैं –

Alternative to the pact was war which could not be treated lightly. In the present circumstances war would prove ruinous both to the victor and the vanquished. Not only would Pakistan suffer terribly in the event of war but India also.

"लियाक़त अली के साथ समझौता न होता तो दूसरा विकल्प था

युद्ध। सो, युद्ध को खिलवाड़ नहीं समझना चाहिए, वर्तमान अवस्थाओं में युद्ध विजित और विजेता दोनों के लिए विनाश कारक सिद्ध होगा, युद्ध होने पर न केवल पाकिस्तान को घोर क्षति पहुँचेगी, परन्तु भारत को भी"।

हे देश के नेता! युद्ध को कोई खिलवाड़ नहीं समझता, परन्तु युद्ध में दोनों पक्षों की हानी हो, यह तो सदा ही होता आया है। इसमें नई बात क्या है? प्रश्न तो यह है कि क्या राष्ट्रों और क्या व्यक्तियों के जीवन में ऐसे समय आते हैं, जब उनकी उन वस्तुओं पर आघात पहुँचता है, जो जीवन से भी अधिक प्यारी हैं। उस समय क्या व्यक्ति जीने को राष्ट्र के लिए मरने से अधिक पसन्द करते हैं। वह समय भारत के लिए आया हुआ है। इसके निम्न कारण हैं---

(१) भारत की भूमि पर आक्रमण हुआ (कश्मीर में)।

(२) बंटवारे के समय जो लाखों हिन्दू पाकिस्तान में थे, वह जबरदस्ती भारत में धकेल दिये गये, किन्तु उनकी संख्या के अनुपात से भूमि हमें नहीं दी गई।

(३) हमारी सहस्रों बहिने अपहरण करके घरों में डाल ली गईं, जो भयङ्कर से भयङ्कर अपमान का जीवन बिता रही हैं और अनेक बार वायदे करके भी लौटाई नहीं गईं।

(४) हमारे सच्चे सुख-दुःख के साथी, खाँ साहिब तथा अब्दुल गफ्फार खाँ सरीखे मित्र जेलों में सड़ रहे हैं। जिनके मित्र जेल में सड़े और वैरी दनदनाते फिरें, उनके जीवन को धिक्कार है!

ऊपर कहे कारणों में से एक-एक भी युद्ध की घोषणा के लिये पर्याप्त है। फिर जब चारों उपस्थित हों, फिर युद्ध की घोषणा क्यों नहीं की जाये? यह युद्ध सम्प्रदायवादी युद्ध नहीं होगा, किन्तु सम्प्रदायवाद के विरुद्ध युद्ध की घोषणा होगी। हे नेहरु जी! सीमा के उस पार तो

सम्प्रदायवाद के नेता की कब्र पर आप फूल चढ़ावें और इस पार उन के विरुद्ध कांग्रेस से प्रस्ताव पास कराने के लिये त्यागपत्र की धमकी दें। यह कहाँ का न्याय है? यह जनतन्त्र (Democracy) नहीं, दम्भतन्त्र (Hypocrisy) है।

महात्मा गांधी -

इस प्रसङ्ग में महात्मा गांधी का नाम बारम्बार लिया जाता है। श्री गिडवानी ने कांग्रेस के खुले अधिवेशन में घोषणा की कि महात्मा गांधी पाकिस्तान के अपराधों के कारण हिंसात्मक युद्ध की घोषणा के लिये तैय्यार थे। मान लीजिए, वे तैय्यार नहीं थे, तो कम से कम वे अहिंसात्मक युद्ध तो करते ही-जैसा उन्होंने नोआखाली में किया। अत्याचारी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा तो होनी ही चाहिये, चाहे वह हिंसात्मक हो, चाहे अहिंसात्मक, किन्तु अत्याचारी के साथ "पैक्ट" तो नहीं हो सकता। यह तो गांधीवाद नहीं, नेहरुवाद है। इसे वे स्वतन्त्र नाम पेश करें, इसमें गांधी जी के नाम की दुहाई नहीं दी जा सकती। यदि नेहरु जी गांधीवाद के समर्थक हैं तो प्रधान-मन्त्री पद से त्याग पत्र देकर, एक सत्याग्रही जत्था ले कर, जहां हिन्दू मुसलमान पर या मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करते हों, वहां चढाई कर दें, क्योंकि यह वह भी मानते हैं कि पाकिस्तान का व्यवहार संतोषजनक नहीं। इसलिये उन्हें पाकिस्तान स्वयं जाना होगा-यह होगी गांधी जी की ब्रह्मनीति। दूसरी ओर, जब तक वे महामन्त्री के पद पर आरूढ हैं, उनका कर्तव्य है कि राजदण्ड को पाप के विध्वंस के लिये प्रयोग करें। जो कुछ वे इस समय कर रहे हैं, वह न तो ब्रह्मनीति है, न राज-नीति, उस का सीधा नाम है आत्मवञ्चन (Self-deception) वे कहते हैं कि समझौते से वे "पूर्णतया सन्तुष्ट हैं" यह नहीं कह सकते, परन्तु "There was no doubt that pact had

produced certain very healthy results." इसमें सन्देह नहीं कि समझौते ने कुछ अत्यन्त स्वास्थ्यकर परिणाम उत्पन्न किये हैं।

महात्मन्! यह आप ही अनुभव करते हैं या वे लोग भी जिन पर बीत रही है? जब तक वे ऐसा अनुभव न करें, आप का कहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता।

आक्रमण -

नेहरु जी के पक्ष का कांग्रेस में समर्थन करते हुए डा. पी.सी. घोष ने कहा "If India was the victim of aggression. He will of course, defend herself but he herself should never think of aggression.''

यदि भारत पर कोई आक्रमण हुआ तो वह निःसन्देह अपना बचाव करेगा, किन्तु उसे स्वयं किसी पर आक्रमण करने की बात न सोचनी चाहिये । हमारा घोष महोदय से केवल एक ही प्रश्न है, कश्मीर के मामले में सर ओवन डिक्सन की स्पष्ट घोषणा के पश्चात् भी किसी 'यदि' के लिये स्थान रह गया है? हम नेहरु जी से तथा घोष महोदय से जानना चाहते हैं कि इस विषय में आप क्या कहते हैं? क्या डिक्सन ने स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा कि पाकिस्तान का काश्मीर में आक्रमण अन्तरराष्ट्रीय विधान के विरुद्ध था?

टण्डन जी -

टण्डन जी का कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये चुनाव आया और सफलता के साथ चला गया। मुझ सरीखे लाखों नर-नारियों ने उस दिन उनके चुनाव की सफलता के लिये प्रार्थना की, परन्तु परिणाम क्या निकला? कुछ नहीं। नेहरु देवता तनिक भी टस से मस न हुए? टण्डन जी की नेहरु के प्रति वही नीति है, जो नेहरु की पाकिस्तान के प्रति है।

गर्जे बहुत पर बरसे कुछ भी नहीं। इस नीति से काम नहीं चलेगा। राष्ट्र में पाकिस्तान के अत्याचारों के प्रति रोष अनुभव करने वालों की संख्या बहुत बड़ी है। मेरा विश्वास है कि बहुपक्ष है। ऐसा न होता तो टण्डन जी को विजय प्राप्त न होती। किन्तु उन में साहस की कमी है – जब नेहरु जी अपना त्यागपत्र लेकर सामने आते हैं तो सब के हाथ पैर फूल जाते हैं! आवश्यकता है देश में उन साहस वालों की जो साहसपूर्वक कह सकें कि हे जवाहर! तुम सचमुच देश के जवाहर हो, परन्तु राष्ट्र का गौरव उससे भी बड़ा जवाहर है। आप के त्याग-पत्र से राष्ट्र की भारी हानि है, पर राष्ट्र का गौरव नष्ट होने से उससे भी बड़ी हानि है। इसलिये आप अपनी नीति परिवर्तित कीजिए और यदि आप इस पर अड़े हैं तो हम भारी हृदय से आप का त्यागपत्र स्वीकार करने को तैयार हैं किन्तु राष्ट्र के सच्चे मित्रों को जेल में सड़ता हुआ नहीं देख सकते।

यह साहस उत्पन्न करने के लिये ही 'भारतीय लोकसंघ' का जन्म हुआ है। साहस वालों, आओ और साहस वाले झण्डे के नीचे इकट्ठे हो जाओ ।

हैदराबाद में जब अत्याचार हुए, तब भी नेहरु जी अपनी नीति बदलना नहीं चाहते थे, परन्तु, अन्त को उन्होंने लोकमत के सामने सिर झुकाया और अपनी नीति बदली। उस के परिणाम कितने अच्छे हुए? क्या हम आशा न करें कि वे अब भी अपनी नीति बदलेंगे?

यदि वे किसी प्रकार भी अपनी नीति न बदलें, तो लोकमत को अपना अदम्यबल प्रकट करना चाहिये। पाकिस्तान के अत्याचारों का नाश हो! तिरंगे की जय हो!!

भारतीय लोक संघ की स्थापना क्यों?[१]

पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार

कार्यकर्ता प्रधान - भारतीय लोक संघ

भारत को स्वराज्य प्राप्त हो गया, अब हमारे राष्ट्र का अगला कदम होना चाहिये सर्व राष्ट्र सम्मत (जिसे सब राष्ट्रों ने एक मत होकर स्थापित किया हो) समस्त मानवता द्वारा स्वयं वृत (जिसे सारी मनुष्य जाति ने चुनाव द्वारा स्वीकृत किया हो) सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की स्थापना करना क्योंकि जब तक इस राज्य की स्थापना न होगी तब तक बलवान् राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों को इसी प्रकार दबाते तथा सताते रहेंगे, जिस प्रकार एक राष्ट्र में राजा न होने से अराजकता फैल जाती है और बलवान् दुर्बलों को सताते हैं। इसके लिये आवश्यक है कि सर्वप्रथम भारत की राज्य व्यवस्था उन सिद्धान्तों पर अवलम्बित हो, जिन पर हम पूर्वोक्त विशेषणों वाला सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य बनाना चाहते हैं। वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

प्रत्येक व्यक्ति को (चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष) अधिकार है कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का विकास करने में स्वतन्त्र हो।

---

[१] **पं० बुद्धदेव विद्यालंकार जी के द्वारा इस लघु पुस्तिका का प्रथम संस्करण श्री कुन्दन लाल जी की पुण्य स्मृति में प्रकाशित हुआ था।**

प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि जिससे दूसरों के विकास में न केवल बाधक न हो किन्तु पूर्ण रूप से सहायक हो।

समाज का अधिकार है कि प्रत्येक व्यक्ति की उन चेष्टाओं को नियन्त्रित करे, जो समाज के लिए विघातक हों अथवा उसके अपने वा दूसरों के विकास में बाधक हो।

किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने विचारों से सहमत होने के लिये किसी पर बल का प्रयोग कर सके। विचार परिवर्तन का एक मात्र साधन प्रेमयुक्त तर्क है तथा स्वयं आचरण द्वारा आदर्श स्थापित करना है। किसी व्यक्ति की दूसरे के विकास में बाधक चेष्टाओं को दूर करने के लिये बल प्रयोग करने यहाँ तक कि सम्पत्ति तथा प्राण तक भी लेने का समाज को पूर्ण अधिकार है और इस प्रकार की हिंसा वास्तव में अहिंसा है।

किसी मनुष्य को अधिकार नहीं कि वह किसी कुल, देश, जाति अथवा वर्ग में जन्म लेने मात्र के कारण किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त करे, समाज को भी अधिकार नहीं कि वह किसी को इस आधार पर किसी अधिकार से वञ्चित रखे।

समाज में जितने प्रकार के भी अधिकार उत्पन्न होते हैं, उनका आधार है सदुपयोग। सदुपयोग के दो आधार हैं एक ज्ञान बल, दूसरा आत्मसंयम अथवा चरित्र बल।

इन मौलिक सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर हम उन राजनैतिक दलों की समीक्षा करना चाहते हैं जो इस समय भारत में कार्य कर रहे हैं।

कांग्रेस दल -

सबसे प्रथम कांग्रेस दल को लेते हैं जिसके हाथ में इस समय राजसत्ता है। इसमें किसी को सन्देह नहीं कि कांग्रेस दल के साधारण

तथा मध्यम श्रेणी के कार्यकर्ताओं में चाहे अयोग्य तथा अवाञ्छनीय लोग भी सत्ता के लोभ से घुस आये हैं परन्तु कांग्रेस दल की बाग-डोर जिन लोगों के हाथ में है, वे भारत के लिए ही नहीं किसी भी देश के लिए अभिमान का कारण हो सकते हैं परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हम उनके प्रति श्रद्धा के आवेश में उनकी भूलों को भूल समझना छोड़ दें। ऐसा करना अपने साथ तथा उन पवित्र सिद्धान्तों के साथ अन्याय करना होगा, जिन पर लोकतन्त्र शासन अवलम्बित है।

हमारी दृष्टि में कांग्रेस दल की सबसे बड़ी भारी भूल वह भूल है, जो उसे महात्मा गांधी से दाय रूप में (विरासत में) मिली है। वह है अत्याचारी के प्रति अनुचित उदारता। महात्मा गांधी संसार के वीरतम पुरुष थे। यदि वे वीर न होते तो महात्मा कैसे बनते? किन्तु वीर तथा महात्मा लोगों से यह भूल प्रायः हुआ ही करती है। वह दुष्टों के सुधार के आवेश में यह भूल जाते हैं कि सब दुष्टों का सुधार असम्भव है। जो महात्माओं के प्रेम के बदले में रत्ती भर भी प्रेम करता है, उसका सुधार सम्भव है, उसे कभी-कभी महात्मा लोग सुधार ही लेते हैं परन्तु जो महात्मा लोग जितना प्रेम करें उतना ही बिगड़ता जाय ऐसे पुरुषों को प्रेम से समझाने की चेष्टा करना भैंस को बीन बजाकर रिझाने के समान है- इसी भूल के कारण जिन्ना को हमारे राजनैतिक इतिहास में इतना प्रमुख स्थान मिला। खैर जब तक विदेशी शासन हमारे देश में था तब तक इस नीति का यथा किञ्चित् पोषण भी किया जा सकता था, परन्तु दुःख तो यह है कि यह भूल अब भी हमारा पीछा नहीं छोड़ती, इस भूल के मूल में एक दार्शनिक भूल है। वह है गिनती की भूल इस संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं- एक प्रेम करने वाले, दूसरे प्रेम के बदले में प्रेम करने वाले, तीसरे प्रेम के बदले में द्वेष करने वाले। किन्तु महात्मा लोग प्रायः अपनी

गिनती में तीसरे वर्ग को भूल जाते हैं, उनके लिए यह है भी स्वाभाविक ही, क्योंकि वह यही सोचते हैं कि हमने इस दुष्ट को सुधारने का यत्न किया परन्तु यह सुधरा नहीं तो हमारे ही अन्दर कोई त्रुटि रह गई है, उसे ढूंढ कर दूर करें और अबकी बार फिर यत्न कर देखें। उन्हें ऐसा करना भी चाहिए, नहीं तो उन्हें अपनी त्रुटियों का पता कैसे लगे? परन्तु एक वर्ग ऐसा भी होना चाहिए जो यह देखता रहे कि दुष्ट लोग महात्मा पुरुषों की महत्ता का अनुचित लाभ तो नहीं उठा रहे कहीं उनकी दया और उदारता को दुर्बलता तो नहीं समझ रहे।

जिस प्रकार न्याय विभाग तथा प्रबन्ध विभाग का पृथक् होना आवश्यक है, इसी प्रकार उदारता विभाग तथा दण्ड विभाग का पृथक् होना आवश्यक है। इसी को भारतीय संस्कृति में ब्राह्मण वर्ग तथा क्षत्रिय वर्ग का नाम दिया गया है।

यह आनन्द की बात है कि कांग्रेस इस भूल को समझती जा रही है और उसने दुष्टों को दण्ड देना भी प्रारम्भ कर दिया है। परन्तु एक और भय है कि "ऐहलौकिक राज्य" सेक्युलर स्टेट, सेक्युलर स्टेट पुकारने से ईश्वरभक्ति, आध्यात्मिकता, उदारता, चरित्र निर्माण आदि गुण कहीं राज्य में से बिल्कुल ही न निकल जावें।

जहाँ तक यह पुकार साम्प्रदायिक विद्वेष को मिटाने के लिए उठी है, उसका स्वागत करते हैं किन्तु भय यह है कि साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करते करते कहीं सत्यधर्म अर्थात् चरित्र का भी लोप न हो जाय। महात्मा गांधी 'राम राज्य' चाहते थे परन्तु राम का हमारी राज्यव्यवस्था से जिस प्रकार बहिष्कार हो रहा है, उससे यह राज्य ही राज्य रह जायगा, राम तो इसमें से निकल जायगा। हमारे शासकों को उचित है कि वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब विचारधाराओं के नेताओं को इकट्ठा

करके सर्वसम्मत चरित्रनिर्माण के आधारभूत अध्यात्म, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि गुणों को शिक्षा का अङ्ग बनावें तथा वर्णाश्रम व्यवस्था को; जिसका किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं, भावी भारतीय समाज के निर्माण का मानचित्र समझ कर उसके अनुकूल राज्य व्यवस्था को चलावें। उदाहरण के लिए यदि एक नियत आयु पर यथा ५० वर्ष की आयु में राष्ट्र के हर व्यक्ति से रोज़ नियमानुसार शिक्षा विभाग में कार्य लिया जाय और उसे अन्य सब विभागों से यथासम्भव पृथक् करके बलपूर्वक शिक्षा विभाग में भेज दिया जाय तो राष्ट्र की शिक्षा का प्रश्न बड़ी सुगमता से हल हो सकता है, इस नियम का हिन्दू मुसलमान आदि किसी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। संसार के प्रायः सब राष्ट्रों में सेना में बलपूर्वक भरती का नियम है, उससे किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में बाधा नहीं आती तो शिक्षा प्रचार में Conscription स्वीकार करने में क्या हानि है? भेद केवल इतना है कि फौजी भरती में आयु १८ या बीस वर्ष है। इस भरती की आयु ५० वर्ष होगी, भला इससे बढ़ कर आश्चर्य क्या होगा कि हिंसा के लिये ज़बरदस्ती भरती करने में तो सब सहमत हों किन्तु विद्या प्रचार के लिए ज़बरदस्ती भरती करना साम्प्रदायिक समझा जाय, सो कांग्रेस दल से हमारे दो मतभेद हैं-

१. **हम अनुचित उदारता को दूर करना चाहते हैं।**
२. **हम सेक्युलर स्टेट के अन्धे प्रवाह में चरित्र निर्माण को आंखों से ओझल नहीं होने देना चाहते अर्थात् राष्ट्र को ब्रह्म हत्या से बचाना चाहते हैं क्योंकि आध्यात्मिकता अथवा चरित्र का लोप ही तो ब्रह्महत्या है।**

समाजवादी दल -

हमारे राष्ट्र में इस समय दूसरा दल समाजवादी दल अर्थात्

सोशलिस्ट पार्टी है। इनका महावाक्य है -

From every one according to his capacity to every one according to his need.

श्रमो योग्यत्वमाश्रित्य फलञ्चानुप्रयोजनम् अर्थात् हर एक से योग्यतानुसार काम लिया जाय, उसे उसकी आवश्यकतानुसार फल दिया जाय।

सिद्धान्त अच्छा है। इसमें किसी को क्या मत भेद हो सकता है? परन्तु चरित्र निर्माण पर उचित बल न देने तथा उसकी उपेक्षा करने से परिणाम यह हो रहा है कि Need का स्थान Greed को मिल रहा है, निर्वाह का स्थान लोभ ले रहा है बुभुक्षा का स्थान तृष्णा ले रही है। इसका कारण यह है कि इस दल ने भी समाज के निर्माण में भारतीय संस्कृति को बिलकुल भुला दिया है, पश्चिमीय तथा भारतीय लोगों की विचारधारा में एक मौलिक भेद है। पश्चिमीय लोग सदा परिस्थिति परिस्थिति चिल्लाते हैं। जब धनियों तथा पूंजीपतियों के चरित्र में कोई दोष मिलता है तो उसका कारण वे ऐश्वर्य की अधिकता बताते हैं, क्या विडम्बना है? ग़रीब इसलिए दुश्चरित्र हैं कि उनके पास धन नहीं, धनी इसलिए दुश्चरित्र हैं कि उनके पास धन है। दोनों अवस्थाओं में दोष परिस्थिति का है। वे यह भूल जाते हैं कि चरित्रवान् निर्धनता में चरित्र बल द्वारा धन उपार्जन करता है, धनवान् होने पर उसे परोपकार में लगाता है। चरित्रहीन निर्धनता में जलता है, कुढ़ता है तथा चोरी करता है। धन पाकर मदोन्मत्त हो जाता है, अत्याचार करता है तथा अपव्यय करता है, दोष निर्धनता अथवा धनिकता का नहीं चरित्रहीनता का है, मानव समाज के निर्माण में मुख्य स्थान परिस्थिति का नहीं अन्तःस्थिति का है। बस इस अन्तःस्थिति की उपेक्षा ही समाजवादियों का सबसे बड़ा दोष है यदि उनमें यह दोष न

होता तो वे समाज निर्माण के लिए पश्चिम के विद्वानों की ओर न ताकते, कभी वर्णव्यवस्था की ओर भी ध्यान देते। देखिये मानव समाज के तीन महाशत्रु हैं-

१. प्रभाव (Poverty)

२. अन्याय (Injustice)

३. विद्या (Ignorance)

अन्न वस्त्रादि का उत्पन्न न होना अभाव दुःख है। होते हुए भी सबको प्राप्त न होना अन्याय दुःख है। प्राप्त होते भी उनके दुरुपयोग द्वारा दुःखी होना अविद्या दुःख है, इन तीन दुःखों का निवारण ही मानव समाज का लक्ष्य है।

समाजवादी इन दुःखों के निवारणार्थ विधानसभा का द्वार खटखटाते हैं। भला कभी क़ानून बनने मात्र से मनुष्यों के दुःख दूर हुए हैं। अच्छे से अच्छे क़ानून भी चरित्रहीन मनुष्यों के हाथ में पड़कर दुःख ही का कारण बनते हैं। इसलिए Grow more food अथवा Bring better distribution of wealth Grow more character का नाद उठाना आवश्यक है, इनके स्थान में न सही तो कम से कम मुख्यता तो इस नाद को मिलनी चाहिये।

इसके विपरीत हमारे पूर्वजों ने अभाव, अन्याय तथा अविद्या; इन तीन शत्रुओं के मारने का दूसरा ही उपाय निकाला था, उन्होंने इसको शिक्षा का अङ्ग बना दिया था, हर एक विद्यार्थी को वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने से पहिले इन तीनों में से एक को दूर करने का व्रत धारण करना पड़ता था। इस प्रकार उन्होंने शिक्षा को दो भागों में बाँट दिया था। एक व्रत धारण के पूर्व, दूसरी व्रत धारण के पश्चात्। व्रत धारण से पूर्व की शिक्षा उपनयन के साथ समाप्त हो जाती थी, उसके पश्चात् उसकी

वास्तविक विद्या का आरम्भ होता था, जिसे वेदारम्भ अथवा विद्यारम्भ कहते थे, उपनयन में इन तीन में से एक व्रत लेना पड़ता था।

जो अभाव के नाश का व्रत लेता था, उसे वैश्य कहते थे, ज़ो अन्याय के नाश का व्रत लेता था, उसे क्षत्रिय कहते थे, जो अविद्या के नाश का व्रत लेता था, उसे ब्राह्मण कहते थे। इसीलिए विद्यार्थी को संस्कृत भाषा में व्रती कहते हैं क्योंकि वह अपने व्रत का गुरु की अनुमति से परन्तु अपनी इच्छा से वरण अर्थात् चुनाव करता था इसीलिये उसे वर्णी तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को वर्ण कहा जाता था।

आज भी मानव समाज के दुःखों के निवारण का यही उपाय है कि उसे शिक्षक, रक्षक तथा पोषक इन तीन भागों में बाँटकर समाज सेवा के व्रत को शिक्षा का अङ्ग बना दिया जाय तथा इस प्रकार मानव समाज की अन्तःस्थिति सुधारी जाय। जिनकी अन्तःस्थिति सुधर जायेगी वह परिस्थिति को स्वयं ही सुधार लेंगे। वे बिगड़ी हुई परिस्थिति को एक क्षण भी कैसे सहन कर सकेंगे? इसलिये इस परिस्थिति के सुधार के लिये अन्तःस्थिति का सुधार परमावश्यक है। यह अन्तःस्थिति की घोर उपेक्षा! शोचनीय उपेक्षा!! दण्डनीय उपेक्षा!!! सोशलिस्टों का सबसे बड़ा दोष है। इसीलिये हम कहते हैं कि समाजवादी दल की नीति भारतीय संस्कृति पर अवलम्बित नहीं है।

कम्युनिस्ट दल -

हमारे देश में तीसरा दल कम्युनिस्ट दल है। यदि सोशिलिस्ट दल भारतीय संस्कृति की उपेक्षा करता है तो कम्युनिस्ट दल उसके विध्वंस के लिये कटिबद्ध है। कम्युनिस्ट तो भारत की राष्ट्रीयता का भी शत्रु है।

जिस प्रकार मुस्लिमलीगियों के पैर भारत में रहते थे पर सिर अरब में रहता था, उसी प्रकार कम्युनिस्टों के पैर भारत में रहते हैं, सिर

रूस में रहता है। वे मक्के के गीत गाते थे, ये मास्को के गीत गाते हैं।

और सच तो यह है कि भक्त यह मास्को के भी नहीं, ईश्वरभक्ति तथा आध्यात्मिकता से संसार को विमुख करना, प्रभु भक्ति के सच्चे सुलभ तथा बिना व्यय के प्राप्त होने वाले बुद्धि-वर्द्धक नशे के स्थान में शराब के नशे का प्रचार करना, ब्रह्मचर्य की खिल्ली उड़ाना, वीर्यशक्ति को ज्ञान वृद्धि के स्थान में भोगवृद्धि का साधन बताना, संसार भर के महात्मा, ऋषि-मुनि, पैग़म्बर, धर्म गुरु आदि को पूञ्जीपतियों का एजेण्ट बताना इनका पेशा है।

ये त्रिशिरा राक्षस हैं। एक मुँह से मजदूरों से चन्दा करके खाते हैं। दूसरे मुँह से मिल मालिकों को धमकाकर भोग सामग्री लेकर मौज उड़ाते हैं, तीसरे मुँह से रूस से पैसा मंगाकर देशद्रोह के सामान करते हैं। यह कुरीतियों के दलाल संसार भर को पूञ्जीपतियों का दलाल बताते हैं। मज़दूरों की हड़ताल करवा के वेतन वृद्धि तो करवाते हैं परन्तु उन्हें उस धन का सद्व्यय नहीं सिखाते। जिसका परिणाम यह होता है कि दुगना-तिगुना वेतन बढ़ने पर भी मज़दूरों के बच्चे तथा पत्नियां भूखे ही मरते हैं क्योंकि उनका सारा वेतन तो सिनेमा तथा शराब में पहुँच जाता है। जब कोई शराब का खण्डन करता है तो कहते हैं कि वाह! दिन-भर का थका हुआ शाम को शराब भी न पीए। देखो पूञ्जीपतियों को, वे भी तो शराब पीते हैं। पूञ्जीपति की शराब तथा उसका अन्याय छुड़ाने के स्थान में यह मज़दूरों को भी शराबी तथा अन्यायी बनाते हैं। इस प्रकार कहने को तो यह Equal distribution of wealth के प्रचारक हैं परन्तु वस्तुतः ये Equal distribution of immorality के प्रचारक हैं।

रूस में ज़ार का राज्य था। वहाँ अत्याचारी शासक थे तथा लेनिन सरीखे स्वार्थहीन तपस्वी परोपकारी नेता कम्युनिज्म की बागडोर सम्भाले

हुए थे।

परन्तु भारत के शासक अत्याचारी अथवा हृदयहीन नहीं हैं, दूसरे भारत के कम्युनिस्ट प्रायः भोग परायण लोग हैं जिनका प्रचार का साधन मुख्यतया व्यभिचार का प्रचार है इसलिये भारत में कम्युनिज्म नहीं पनप सकता।

मध्यकालीन भारत में तीन प्रकार का जन्म सिद्ध अधिकार माना जाता था, ब्राह्मणों का परलोक पर, क्षत्रियों का शासन पर, वैश्यों का सम्पत्ति पर तथा तीनों ने मिलकर शूद्रों को उन्नति के अधिकार से वञ्चित किया हुआ था। **किन्तु ऋषि दयानन्द, महात्मा बुद्ध, गुरु नानक, महात्मा गांधी** आदि महापुरुषों के उद्योग से ब्राह्मणों का जन्म सिद्ध अधिकार विदा हुआ, क्षत्रियों का जन्मसिद्ध अधिकार कुछ तो ब्रिटिश शासन ने सबको सेना में भरती करके दूर किया, कुछ सरदार पटेल के राज्य में दूर हो गया, जो शेष रह गया, वह भी इसी प्रकार दूर हो जायेगा, अब सम्पत्ति अथवा पूंजी पर जन्मसिद्ध अधिकार को दूर करके चरित्रसिद्ध अधिकार के स्थापन की बारी है, बस इसी के लिये सारे राष्ट्र को बल लगाना है सो जहाँ तक पूञ्जीपति के अन्याय के विरुद्ध युद्ध की बात है वहां तक कम्युनिस्ट लोगों का उद्देश्य अच्छा है परन्तु अत्याचारी पूंजी से सत्ता छीनकर दुराचारी वाममार्गियों के हाथ में सत्ता देना गड्ढे में से निकाल कर कुएँ में गिराने के समान है। इसलिए **हम इस विषय में न पूंजीवादी हैं न साम्यवादी। हम इस विषय में यथायोग्यवादी हैं।** जिसमें जितना चरित्र बल हो उतना ही उसके अधिकार का विस्तार हो। पूंजीवादी कहते हैं, हमारी सन्तान कैसी ही भ्रष्ट अथवा दुराचारी क्यों न हो? सम्पत्ति पर उनका जन्मसिद्ध अधिकार है, यही कारण है कि वर्तमान निरंकुश पूंजीपतियों की सन्तान में कोई विरला ही सदाचारी होता होगा,

दूसरी ओर कम्युनिस्ट कहते हैं कि सब की सम्पत्ति छीन लो, सो इस प्रकार तो पुरुषार्थ के लिए उत्साह ही न रहेगा, क्योंकि कुछ निष्कामभाव से काम करने वाले महात्माओं को छोड़कर साधारण मनुष्य प्राप्ति की आशा के बिना कार्य ही नहीं करते, इसलिए हमारा सिद्धान्त इन दोनों से निराला है।

पूंजीपति कहता है- "हमें छेड़ो मत।

कम्युनिस्ट कहता है- "इन्हें छोड़ो मत। "

हम कहते हैं कि जो "लोक सेवा करता है, सदुपयोग करता है, उसे छेड़ो मत, जो दुष्ट है, शोषण करता है, उसे छोड़ो मत।"

यह यथायोग्यवाद ही हमारी विशेषता है। इसलिए इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारतीय लोक सङ्घ की स्थापना हुई है।

सार -

भारतीय लोक संघ -

विश्व की राजनीति में सर्व मानव सम्मत सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य अर्थात् सार्वभौम राष्ट्र संघ चाहता है, जो चुनाव पर अवलम्बित हो।

भारत की राजनीति में कांग्रेसवाद का सुधार चाहता है क्योंकि उसकी नीति प्रधानतया पाश्चात्य विचारों पर अवलम्बित है तथा भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीन है। उसमें जो अनुचित उदारता का प्रयोग होता है, उसका निवारण चाहता है। उसमें जो धर्म के प्रचार की अवहेलना होती है, उसे दूर करना चाहता है। परन्तु साथ ही राष्ट्र में शान्ति बनाये रखने के लिए शासन को पूर्ण सहयोग देना चाहता है। वर्णाश्रम व्यवस्था चाहता है। समाज के निर्माण में भारतीयता चाहता। परिस्थिति से बढ़कर अन्तःस्थिति का सुधार चाहता है। समाजवाद का भारतीय रूप चाहता है। सम्पत्ति के अधिकार पाने में यथायोग्यवाद चाहता है। चरित्र का

गौरव चाहता है। दण्ड तथा प्रेम का समन्वय चाहता है तथा चरित्र और प्रेम के परम शत्रु कम्युनिज्म का समूल नाश चाहता है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत की सब विचारधाराओं के प्रतिनिधियों को मिलाकर नैतिक सिद्धान्तों की आधार भित्ति तैय्यार करनी चाहिए। इन सिद्धान्तों के लिए जीवन अर्पण करने वाले कार्यकर्ताओं का संगठन करना चाहिए।

इस प्रकार का चतुर्मुख साहित्य तैय्यार करना चाहिए।

यह संगठन तैय्यार करके सारे राष्ट्र में सम्पूर्ण वैध तथा उदात्त उपायों से घोर तथा अनवरत आन्दोलन करना चाहिये, जिससे हमारा राष्ट्र पूर्ण सुख प्राप्त करे तथा विश्व कल्याण के लिए पूर्वोक्त सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की स्थापना में अपना उचित भाग प्रदान कर सके।

अतः भारत के आबालवृद्ध सब नर-नारियों से प्रार्थना है कि वे भारतीय लोक संघ के सदस्य बन कर हमारे इस पुण्य कार्य में हाथ बटावें तथा इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस के भागी हों।

सब सज्जनों का सहयोगाभिलाषी

शिवदयालु

मंत्री, भारतीय लोक सङ्घ

"भारतीय लोक सङ्घ" का संक्षिप्त विधान

नाम – इस संस्था का नाम "भारतीय लोक संघ " होगा।

उद्देश्य -

भारत की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक आदि समस्याओं को विशुद्ध भारतीय दृष्टि से सुलझा कर राज्य व्यवस्था को सामान्यतः समस्त मानव और विशेषतः भारतीय जन सामान्य के कल्याण का साधन बनाना इस संघ का उद्देश्य है।

उद्देश्य के साधन -

१. देश की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक आदि समस्याओं को भारतीय संस्कृति के आदर्श के अनुसार सुलझाना।

२. उद्देश्य के साधक साहित्य का निर्माण, प्रकाशन तथा प्रचार करना।

३. उद्देश्य की सिद्धि के लिए धनादि सम्पत्ति, धर्मदाय प्राप्त करना तथा उसका यथोचित प्रबन्ध करना।

४. स्थान-२ में इसकी शाखायें स्थापित करना।

५. उद्देश्य सिद्धि के लिये उपयुक्त शिक्षण देकर कार्यकर्ताओं को तैयार करना।

६. उद्देश्य सिद्धि के लिए उपयुक्त साधन यथा- मुद्रणालय, सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना आदि-२ तथा तत्सम्बन्धी अन्य उपाय प्रस्तुत करना।

७. उद्देश्योपयोगी एक वा अधिक पुस्तकालय स्थापित करना।

८. संघ की सर्वविध सम्पत्ति की सुरक्षा रखना तथा प्रबन्ध करना।

सदस्यता -

समस्त भारतीय वयःप्राप्तजन जो इसके उद्देश्य तथा उद्देश्य साधनों में आस्था रखते हों तथा एक रुपया वार्षिक छन्दः (चन्दा) देते हों, इसके साधारण सदस्य बन सकेंगे। सम्पूर्ण चन्दा केन्द्रीय संघ के कार्यालय में जमा होगा। केन्द्र आवश्यकतानुसार तत्तत्स्थान को धन देगा।

सङ्गठन -

१. **शाखा**- जहाँ न्यून से न्यून दस सदस्य हों, वहां संघ की शाखा की स्थापना हो सकेगी।

२. प्रत्येक शाखा अपने दस सदस्यों पर एक प्रतिनिधि "प्रान्तीय

संघ" में भेज सकेगी। तदुपरि प्रत्येक शत के ऊपर एक प्रतिनिधि भेज सकेगी।

३. प्रत्येक "मण्डल संघ" को न्यून से न्यून दो प्रतिनिधि "प्रान्तीय संघ" में भेजने का अधिकार होगा। परन्तु जिस मण्डल में समस्त संघों के साधारण सदस्यों की संख्या एक सहस्र से अधिक होगी तो वह मण्डल प्रथम सहस्र से ऊपर की संख्या के प्रति पाँच सहस्र पर एक प्रतिनिधि भेजेगा। इन प्रतिनिधियों का निर्वाचन 'मण्डल संघ' करेगा परन्तु ये प्रतिनिधि मण्डलान्तर्गत संघों के सदस्यों में से ही चुने जायेंगे।

४. प्रत्येक "प्रान्तीय संघ" को केन्द्रीय भारतीय लोक संघ में न्यून से न्यून पाँच प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा। तदुपरि प्रान्त प्रान्तस्थ समस्त संघों के प्रथम दस सहस्र सदस्यों के ऊपर के प्रत्येक दो सहस्र सदस्यों पर एक प्रतिनिधि भेजेगा।

प्रबन्ध व्यवस्था -

१. (क) इस संघ के मुख्याधिकारी का नाम "प्रधान" होगा, उसका निर्वाचन पाँच वर्षों के लिए होगा।

(ख) यह पुनः भी निर्वाचित किए जा सकते हैं।

(ग) प्रधान का चुनाव प्रारम्भिक सदस्यों के बहुमत से होगा।

२. संघ के प्रधान मन्त्री को "मन्त्री" के नाम से पुकारा जायगा। वह केन्द्रीय संघ के बहुमत के आधार पर प्रधान द्वारा निर्वाचित होगा।

३. मन्त्री, समिति (मन्त्रिमण्डल) का चुनाव प्रधान की अनुमति से करेगा।

निर्वाचनियों की योग्यता -

प्रतिनिधि : -

संघ द्वारा निर्दिष्ट समिति में प्रमाणित तथा सफलता प्राप्त

महानुभाव ही प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए खड़े हो सकेंगे। संघ समय-२ पर इस समिति के सम्बन्ध में योग्य निर्देश प्रकाशित करता रहेगा। पहले वर्ष के लिये चुने जाने वाले प्रतिनिधियों को ६ मास के अन्दर विनीति का प्रमाण पत्र प्राप्त करना होगा।

प्रारम्भ -

१. श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज (भू.पू. श्री पं. मुक्तिराम जी) इस संघ के प्रथम मुख्याधिकारी प्रधान निर्वाचित किये गए हैं।

२. जब तक भारत के सर्व प्रान्तों में संघ की शाखायें स्थापित न हो जायें तब तक प्रथम प्रधान श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज को अधिकार दिया जाता है कि वे पचास मनोतीत सभासदों की एक कार्यवाहक समिति बनालें, जिसके सभासद ५१ तक ही हो सकते हैं। यथासम्भव वह प्रत्येक प्रान्त में से एक एक प्रतिनिधि ले लें।

३. केन्द्र का प्रधान कार्यालय देहली में स्थान न मिलने तक रमाबाड़ी (जी. टी. रोड़) गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) रहेगा।

भारतीय लोक संघ की कार्यवाहक समिति -

१. पूज्य श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज – प्रधान

२. विद्वत्वर्य्य श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार –कार्यकर्त्ता प्रधान

३. पूज्य स्वामी अभेदानन्द जी महाराज (बिहार) – उपप्रधान

४. आदरणीय शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्र जी देहलवी- उपप्रधान

५. श्री पं० शिवदयालु जी (मेरठ) – प्रधान मन्त्री

६. श्री पं० बालदिवाकर जी "हंस" - उपमन्त्री

७. श्री पं० ओमप्रकाश जी पुरुषार्थी- उपमन्त्री

८. श्री पूज्य स्वामी दिव्यानन्द जी महाराज - उपमन्त्री

९. श्री लाला हरशरणदास जी – कोषाध्यक्ष

१०. श्री पं० ज्ञानचन्द्रजी बी. ए. – कार्यालयाध्यक्ष

कार्यकारिणी के सदस्यगण -

१. श्री पूज्य महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज (देहरादून) (भू०पू० महात्मा खुशहालचन्द जी)
२. श्री पूज्य स्वामी वेदानन्द जी महाराज (हरिद्वार)
३. श्री पं० ईश्वरचन्द्र जी दर्शनाचार्य (बम्बई)
४. श्री पं० भगवद्दत्त जी बी.ए. वैदिक अनुसंधानकर्ता (अमृतसर)
५. श्री पं० देशबन्धु जी विद्यालङ्कार (गाज़ियाबाद)
६. श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु (काशी)
७. श्री पं० राजेन्द्रनाथ जी आचार्य (देहली)
८. श्री पं० धर्मदेव जी वि. वा. (सम्पादक सार्वदेशिक देहली)
९. श्री पं० ब्रह्मप्रकाश जी वि. वा. (देहली)
१०. श्री आचार्य भगवानदेव जी (गुरुकुल झज्झर)
११. श्री आचार्य कृष्ण जी (प्रभात श्राश्रम टीकरी)
१२. श्री पं० रामनारायण जी शास्त्री (बिहार)
१३. श्री मिहिरचन्द जी धीमान (कलकत्ता)
१४. श्री ठा० अमरसिंह जी पथिक (अरणिया)
१५. देशभक्त कुँवर चाँदकरण जी शारदा (राजस्थान)
१६. कर्मवीर पं० जियालाल जी (राजस्थान)
१७. श्री पं० रुद्रमित्र जी शास्त्री जमशेदपुर (टाटानगर)
१८. श्री पं० सुरेन्द्र जी आयुर्वेदालङ्कार (देहली)
१९. श्री पं० भूदेव जी शास्त्री (मैनपुरी)
२०. श्री ला० रामगोपाल जी (देहली)
२१. कविराज श्री हरनामदास जी बी०ए० (देहली)

ला० कुन्दनलाल की संक्षिप्त जीवनी

लाला कुन्दनलाल का जन्म संवत् १९२७ में लश्कर ग्वालियर में अग्रवाल घराने में हुआ था। इनके पिता लाला शादीराम जी फ़रुख़नगरिये थे, जो ग्वालियर राज्य के शिक्षा तथा न्यायालय में सरिश्तेदार थे, इनकी माता श्रीमती भगवती देवी थीं। इनकी शिक्षा इत्यादि लश्कर में ही हुई और संवत् १९५८ तक वहाँ ही ज्यूडिशियल तथा पुलिस विभाग में कार्य करते रहे, फिर देहली अपने ताऊ लाला हरदेव सहाय रोशनाई फ़रोश, दरीबा कलाँ, देहली के साथ काम करने लगे। इनकी धर्मपत्नियाँ बहुत सुशील और पतिव्रता थीं। स्त्री और सन्तान के स्वर्गवास होने के पश्चात् आपका जी उचाट हो गया और गढ़मुक्तेश्वर चौपुले पर धर्मार्थ मकानात इत्यादि बनवाकर सं० १९६६ में वहाँ ही स्वर्गवासी हो गए। वह सदैव अपने सम्बन्धियों का पालन-पोषण करते रहे। उन्हें तीर्थ यात्रा करने की भी बहुत लगन थी, वह तीर्थ यात्रा पर अपने सम्बन्धियों को भी अपने साथ ले जाया करते थे।

वह सनातनधर्मी विचार के थे। अस्तु, हैदराबाद सत्याग्रह तथा देहली शिव मन्दिर के आन्दोलन में आर्य-समाजियों की सेवा देखकर इनके विचार आर्य समाज की तरफ़ हो गये और उन्होंने स्वामी दयानन्द का चित्र दर्शनार्थ और सत्यार्थ प्रकाश स्वाध्यायार्थ मँगवाये।

इनकी स्मृति में - (१) आर्य समाज गढ़मुक्तेश्वर में यज्ञशाला, (२) महाविद्यालय ज्वालापुर में कमरा, (३) गुरुकुल गढ़पुरी जिला गुड़गाँव में औषधालय बनवाया गया है। जहाँ प्रतिमास ६०० रोगियों को मुफ्त आयुर्वैदिक तथा अँगरेजी दवा मिलती है। (४) 'वैदिक कलचर' नाम की अँगरेज़ी भाषा की एक पुस्तक छपवा कर भी विदेशों में दी जाती रही है, तथा ईश्वर विचार देवनागरी में छपवाया गया है।



प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani86@gmail.com